卐

दसलक्षण धर्म प्रवचन

प्रवक्ता :-

अध्यात्मवेदी बाल ब्रह्मचारी प्रद्युम्नकुमार एम. ए.

श्री पार्श्वनाथ दि० जैन शान्ति निकेतन (उदासीनाश्रम)

ईशरी बाजार, जिला हजारीबाग (बिहार)

प्रकाशक :-

दिगम्बर जैन समाज

रामपुर मनिहारान

(जिला सहारनपुर) उ.प्र.

१९७३]

[मूल्य २.५०

दो शब्द

घरपर सर्वसुविधायें उपलब्ध होते हुए भी जीवन शान्तिके लिए व्याकुल था। न जाने किस प्रकार अंधकारमें चलते चलते सहसा ही मुझे गुरुवर्य पूज्य श्री १०५ क्षु. मनोहरजी वर्णी 'सहजानंद' महाराजका सामीप्य मिला, जिन्होंने परमानुकम्पा से मुझे हस्तावलम्बन देकर संसाररूपी दावाग्निसे अस्पर्श ही निकाल लिया तथा जो धर्मके रहस्यको जीवनमें धारणकर अलौकिक प्रभावनामें रत हैं उन्हीं के सत्समागमसे प्रदत्त रहस्यके प्रकाशनार्थ यह जो प्रस्तुत रचना की भाषा निकली है वह भी मेरे हृदयमें स्थित उन्हीं से आयी है। मैं तो उनका एक तुच्छ दास हूं। यह अल्पभेंट उनके पुण्य चरणोंमें अर्पण करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। उन परमपूज्य गुरुदेवके चरणोंमें शत-शत वन्दन।

—ब्र. प्रद्युम्न

वर्णीजी का शुभाशीर्वाद

संसार से विरक्त वाल ब्रह्मचारी कुमार प्रद्युम्न ने भली भाँति सोच विचार कर संयम मार्ग में कदम रखा है। राजकीय विद्यालयका कार्य छोड़कर दो वर्ष तक यह अल्पवयस्क कुमार मुझसे आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेने को कहता रहा, और मैं दृढ़ता का परिचय पाने के लिए टालता रहा, पश्चात् दृढ़ संकल्प होकर अपने माता पिता व भाइयोंके सामने मेरे समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत व दर्शन प्रतिमा व्रत लिया फिर कुछ दिनों वाद व्रत प्रतिमा ली अब अध्ययन, चिन्तन व उपदेशन द्वारा जो उत्कर्ष हो रहा है उससे मुझे प्रसन्नता है। मौलिक वैराग्य और तत्वज्ञानसे सम्पन्न यह ज्योति निर्दोष विशुद्ध वने, यह हमारी शुभ कामना है।

—मनोहर वर्णी "सहजानन्द"

प्रकाशकीय समाज की ओर से हृदयोद्गार

यह रामपुर-मनिहारान वासियों का सौभाग्य है कि अध्यात्म-रत्न श्रद्धेय वाल ब्रह्मचारी श्री प्रद्युम्नकुमार जी M.A. का चातुर्मास यहां हुआ। उनके द्वारा उपदिष्ट 'दस लक्षण धर्म प्रवचन' पुस्तक के प्रकाशन का लाभ भी हमें प्राप्त हो रहा है यह और भी अधिक हर्ष की वात है। पूज्य ब्रह्मचारी जी की अनुपम आत्म साधना तथा गहन शास्त्र चिन्तन शीलता ने उनकी इस कृति को अत्यन्त रोचक, सुवोध और हृदयग्राही वना दिया है।

प्रथम संस्करण की हज़ार प्रतियाँ नागपुर समाज द्वारा प्रकाशित की गई और प्रवुद्ध समाज ने जिस प्रकार उसका स्वागत और सदुपयोग किया उससे प्रेरित होकर ही पुस्तक का परिवर्द्धित और संशोधित द्वितीय संस्करण धर्म प्रेमी पाठकों के करकमलों में प्रस्तुत है।

पूज्य ब्रह्मचारी जी के तात्विक और मनोहारी १० धर्मों पर प्रवचन सन् १९७० में दि० जैन शान्ति निकेतन (उदासीनाश्रम) ईसरी में पर्यूषण पर्व में हुए थे। प्रवचन सारगर्भित हैं तथा प्रत्येक प्रवचन में नवीन-नवीन सामग्री है। प्रवचन पढ़ते समय वड़ी शान्ति प्राप्त होती है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे हमारे सामने साक्षात उपस्थित होकर व्याख्यान कर रहे है। आपको "२४वें तीर्थंकर भ० महावीर और उनके दिव्य उपदेश" नामक पुस्तक भी प्रकाशित हो चुकी है। साहित्य सम्वर्धन, धर्म शिक्षण शिविर और उपदेशन के माध्यम से आपके द्वारा जो धर्मोद्योत हो रहा है वह स्तुतनीय और अनुकरणीय है।

आशा है कि स्वाध्याय प्रेमी पाठक प्रस्तुत रचना का व्यापक प्रचार करेंगे व पूरा लाभ लेंगे। साथ ही भविष्य में जहां भी पू० ब्रह्मचारी जी का पदार्पण हो वहाँ की जनता से हमारी प्रार्थना है कि उनके प्रवचन लिखाकर अवश्य प्रकाशित करायें, ताकि उनकी अमृतमयी वाणी से अधिकाधिक जनसमूह लाभ उठा सके।

दि० जैन समाज
रामपुर-मनिहारान (सहारनपुर) उ०प्र०
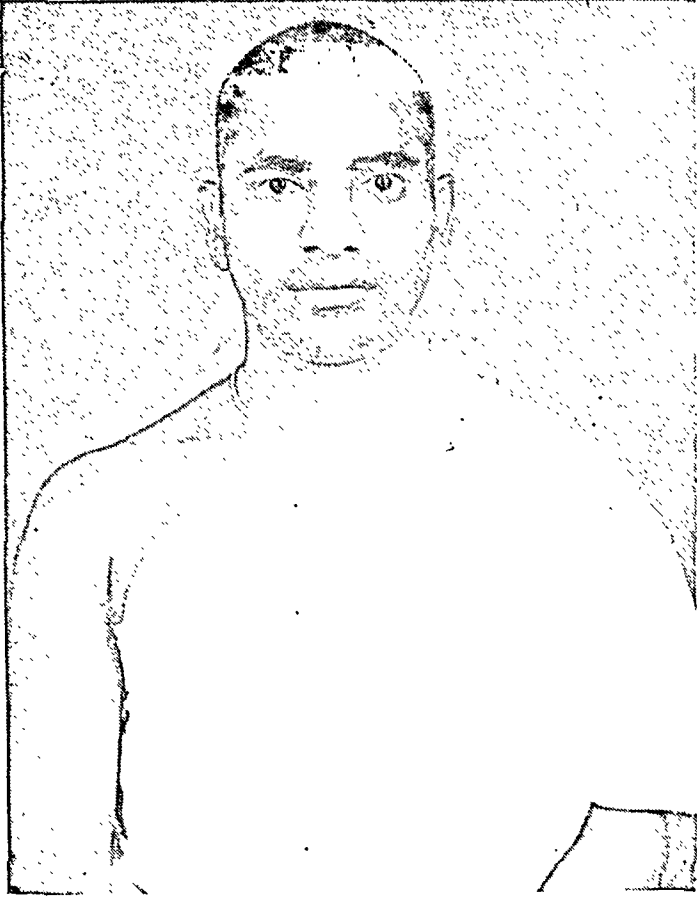
बाल ब्र. प्रद्युम्नकुमार एम.ए.

श्रद्धासुमन

(प्रवचन नोटकर्ता की ओर से)

श्रद्धाविभूति सुरम्य सांगीत से मानवहृदतंत्री को निनादित करने वाले एवं स्वात्मानन्दानुभूति की ओर उन्मुख करने वाले बाल ब्र० श्री प्रद्युम्नकुमार जी के मुखारविन्द से प्रस्फुटित शब्द मेरे मनमानस को शान्ति प्रदान करते हैं, इसी हेतु दि० जैन शान्तिनिकेतन (उदासीनाश्रम) ईसरी चातुर्मास सन् १९७० ई० में पर्यूषण पर्व के शुभ अवसर पर किये गये दशलक्षण धर्म प्रवचनों को नोट कर मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। उनके मुख से प्रस्फुटित इन शब्दों को नोट करते समय मैं आनन्द से झूमता रहता था। इन प्रवचनों से जो हमें प्रेरणायें प्राप्त हुईं वे अनिर्वचनीय हैं। हमारी भावना है कि बाल ब्र० श्री प्रद्युम्न कुमार जी अपने मुखारविन्द से ऐसे ही शब्दजलबिन्दुओं की वृष्टि सर्वत्र करते रहें, ताकि अनादिकाल से कर्माग्नि से संतप्त प्राणी पूर्ण रूपेण शान्ति प्राप्त करें।

अध्यात्मप्रेमी

रामनारायणसिंह स्टेनोग्राफर

वर्णीसंघ

बाल ब्र० श्री प्रद्युम्नकुमारजी की जीवनझांकी

(ब्र० उल्फतराय-नागपुर)

मैंने दि० जैन शान्तिनिकेतन उदासीनाश्रम ईसरी में स्थित करीब २७ वर्षीय बाल ब्र० श्री प्रद्युम्नकुमार जी एम०ए० का अवलोकन किया। इस वैराग्य व आत्मसाधनामय जीवनमूर्तिसे अन्यजन प्रेरणा प्राप्त करें इस हेतुसे आपकी जीवनझांकी का संक्षिप्त उल्लेख करता हूं।

<u>जन्मस्थान व माता पिता:</u> – उत्तरप्रदेश जिला हमीरपुर में टिकरिया ग्राम आपका जन्मस्थान है। वर्तमानमें आपके माता पिता मध्यप्रदेश हरपालपुर में निवास करते हैं। आपके पूज्य पिता जी का नाम श्री ब्र० प्यारेलाल जी है तथा मातेश्वरी श्रीमती ब्र० कस्तूरी बाई जी हैं। आपके माता पिता बहुत धर्मात्मा एवं श्रद्धालु हैं। देव, शास्त्र, गुरू के प्रति उनकी अनन्य भक्ति है। उन्होंने स्वयं पूज्य-क्षु. गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज से तीन संतान होने के उपरान्त ही आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेकर अपना जीवन पवित्र बनाया है। दोनों ही मंद कषाय व सरल प्रकृतिके हैं और अब धर्मसाधन हेतु ईसरी ही रहने लगे हैं। पहिले आपके पिता जी कपड़े का व्यापार करते रहे।

<u>जन्मतिथि:</u>—जैन समाजका दिव्य उजेला बालक प्रद्युम्न का जन्म विक्रम सम्वत् २००० आश्विन कृष्णा १५ को हुआ। जन्म होते ही सम्पूर्ण ग्राममें हर्षका वातावरण छा गया। सब लोग प्रसन्नता से फूले नहीं समाये। सबने अपने को धन्य समझा और आनन्द उत्सव मनाया।

<u>बाल्यावस्था:</u>—बालक प्रद्युम्न अपनी मुखमुद्रा व चालढाल से सबको रंजित करते हुए बढ़ने लगा। आप बहुत ही भोले और शरमीले स्वभाव वाले रहे। शैशवकाल से ही पूर्व संस्कारोंके लक्षण कुछ-कुछ प्रकट थे। जिसके कारण अत्यधिक लाड़प्यारमें आपका भरण पोषण हुआ। बचपनसे ही एकान्तमें रहना, साथियोंके साथ खेलकूदमें मन न लगना आपकी प्रकृति रही। आपकी वैराग्यभावना

बचपनसे ही बलवती रही तथा मनमें घरके प्रति उदासीनता रही। पूज्य माता पिताके धार्मिक बुद्धि होने से इन संस्कारोंको और भी बल मिला। आपको बचपनसे ही मन्दिर जाने, स्वाध्याय करने, सुनने व खानपानकी शुद्धि का विवेक रहा।

प्रारम्भिक शिक्षण:—जन्मस्थानपर आपने प्रारम्भिक शिक्षा ली, पश्चात् वरुआसागर विद्यालयमें भर्ती हुए। परन्तु कुछ मोहवश वहां आप कुछ दिन ही रहकर झांसी अपने बड़े भाई (उस समय आपके बड़े भाई झांसी में पढ़ते थे) के पास पहुंच गये। झांसी से ८वीं की परीक्षा पास करके पश्चात् हरपालपुरमें आपकी शिक्षा हुई। वहाँ से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण कर हायरसेकेण्ड्री क्लास (११वीं) को नौगांवसे पास किया।

उच्च शिक्षण व अध्यापन कार्य:—पश्चात् महाराजा कालेज छतरपुर से आपने बी०ए० पास किया। बी०ए० में दर्शनशास्त्र (फिलास्फी) के विषय में अत्यधिक रुचि होने से आपने अच्छे अंकों में उत्तीर्णता प्राप्त की। पश्चात् आपने डेढ़ वर्ष राजकीय विद्यालय में प्रधानाध्यापक बनकर अध्यापन का कार्य भी किया। आपने बच्चों को तन मन से पढ़ाया तथा नैतिकता व सदाचारता को अपनाने पर जोर दिया।

स्वभाव से ही चिन्तनशील और एकान्तप्रिय होने के कारण आपने अध्यापन कार्य से विराम लिया और पुनः महाराजा कालेज छतरपुर में एम०ए० में एडमीशन लेकर तथा अध्ययन कर आपने सागर विश्वविद्यालय से एम०ए० की डिग्री प्राप्त की।

परिवार परिचय:—आप तीन भाई हैं। आपके छोटे और बड़े दोनों भाई डाक्टर हैं। बड़े भाई डाक्टर कोमलचन्द जी अशोक नगर जिला गुनामें प्राइवेट प्रेक्टिस करते हैं तथा छोटा भाई डा० शम्भूकुमार गवर्नमेन्ट सर्विसमें है। इस तरह आपका परिवार सुसम्पन्न है।

आपका वैराग्य, वर्णीजी के पट्टशिष्य, धर्मशिक्षा व दीक्षा:— यद्यपि आप कालेज में शिक्षण पाते रहे परन्तु उदासीन रूप से सब प्रकार की सम्पन्नता होते हुए भी आपका मन अन्दर ही अन्दर किसी खोजमें था। सौभाग्य से जब आप बी०ए० में पढ़ते थे कि हरपालपुर में आपके पूज्य गुरुवर क्षु० मनोहर जी वर्णी महाराजका

आगमन हुआ। आप छतरपुर से दर्शनार्थ आये। आपने माता-पिता के समक्ष ही महाराज श्री से विवाहके बन्धन में न फंसने का विचार रखा। उन्होंने कहा कि पहिले खूब विचार करलो। एक वर्ष तक पत्रों द्वारा आप अपने विचारों को उनके पास भेजते रहे। आपके माता पिता प्रति वर्ष तीन चार माह को सत्संगति में जाकर धर्माराधन करने का नियम रखे हैं। आपने बी०ए० पास किया था, उसी वर्ष माता पिता के साथ आप आगरा चातुर्मास में पूज्य क्षु० वर्णी जी महाराजके पास गये। उधर आपके बड़े भाई आपको विवाह के बन्धन में जकड़ने का यत्न करने लगे। इतना ही नहीं, जब उन्होंने आपके आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत प्रतिज्ञा अंगीकार करने तथा सत्संगति में ही जीवन बिताने के समाचार सुने तो वे आगरा आये और आपको वहां से अशोक नगर ले जाकर गुना कालेज में एम० ए० क्लास में एडमीशन दिला दिया। आप १०-१५ दिन कालेज जाते रहे, परन्तु आपका मन वहां बिल्कुल नहीं टिका। आप तो तय कर चुके थे कि विवाहका बन्धन ही मोक्षमार्गमें सबसे बड़ा बाधक कारण है तथा वास्तविक सुखशान्तिमय जीवनके लिए ब्रह्मचर्य व्रत का होना प्राथमिक और अति आवश्यक शर्त है। विवाहके बन्धनमें बद्ध हुए व्यक्तियों का जीवन अशान्ति की ओर झुका रहता है इस बात का अनुभव आप अपने अध्ययन काल में ही कर चुके थे। इतना ही नहीं, तात्विक विचार तो आपका यह रहा कि अनादि काल से यह जीव इन काम-भोगों के विषयोंमें फंसा रहा, परन्तु इससे आज तक तृप्ति नहीं हुई। अब एक पर्याय त्यागमय जीवन बिताकर ही देख। इस भावना ने प्रबलता पाई और आप गुनासे भागकर पुनः आगरा आ गये। पूज्य गुरुवर की छत्र-छाया ही आपको शरण थी। आपने अपने निर्णय के अनुसार पूज्य गुरु जी से अपना संकल्प व्यक्त किया। आपके बड़े भाई भी आगरा आ गये और आपको सन् १९६३ में अपने परिवार तथा समस्त जैन समाज आगरा के समक्ष दि० जैन मन्दिर नाईकी मण्डीमें भाद्रपद के अन्तिम दिन गुरुवर्य से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत व पहिली दर्शन प्रतिमाके व्रत प्राप्त हुए।

पश्चात् आप धर्माध्ययनहेतु श्रीगणेशवर्णी जैन संस्कृत विद्यालय सागर गये। वहां ६ माह ही रहना बना। वहां आपने जैन सिद्धान्त-प्रवेशिका, तत्वार्थसूत्र, द्रव्यसंग्रह, रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि ग्रन्थ पढ़े। कुछ भाइयों ने अंग्रेजी साहित्य से एम० ए० कर लेने को प्रेरित

किया तव महाराजा कालेज छतरपुर में अध्ययन कर आपने सागर वश्वविद्यालय से एम० ए० की डिग्री प्राप्त की। तीन चार वर्ष से कुछ दिनोंको पूज्य गुरुवर के समीप रहकर आपने जीवस्थानचर्चा का तथा संस्कृत का ज्ञान किया, उनके प्रवचनों ने तथा रचित आध्यात्मिक साहित्य के स्वाध्याय ने आपको आध्यात्मिक बना दिया। एक नई दिशा मिली। पूज्य गुरुवर्य के आप पर वहुत उपकार हैं। उनके द्वारा रचित सहजानन्दगीता, अध्यात्मसूत्र, भागवतधर्म व आत्म-सम्बोधन तथा समय-सार आदिक अध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय ने आपको आत्मबोध दिया। जिस बल पर ही आज आप निर्मलता के पात्र रहकर अत्यन्त प्रसन्न हैं। उनका संरक्षण आपको सतत वांछनीय है।

व्रतप्रतिमाग्रहण:—आपको सहारनपुर चातुर्मास सन् १९६७ में कार्तिकमास में अष्टान्हिका के अन्तिम दिन गुरु सेवा से दूसरी प्रतिमा के व्रत प्राप्त हुए। इस अवसर पर आपके पूज्य गुरुवर्य १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' जी महाराज के आशीशर्वादात्मक शब्द आपके विषय में निम्नांकित थे। "प्रद्युम्न तो प्रद्युम्न ही हैं, इनके वारे में अधिक क्या कहना, ये तो और भी ऊंचे व्रत लेने के योग्य हैं। भविष्य में समाज को इनसे वहुत आशायें हैं।"

शान्तिनिकेतन ईसरी में (उपाधिष्ठाता):—पूज्य वर्णी जी आपको यहां लाये और यहीं छोड़ गये। आपकी भावों की पवित्रता, सदाचरणता तथा अध्ययन अनुरागशीलता से आपको अधिष्ठाता ब्र० सोहनलाल जी तथा ब्र० सुरेन्द्रनाथ जी से अनुराग प्राप्त हुआ, जिससे आप यहां करीब दो वर्ष से स्थित हैं। यहां की अध्ययन पद्धति के अनुसार आपने कर्मकाण्ड व कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। ब्र० सोहनलाल जी के देहावसान के उपरान्त आपकी अंतः अभिलाषा न होते हुए भी रायवहादुर सेठ हरकचंद जी पाण्ड्या (अध्यक्ष) व ब्र० वा० सुरेन्द्रनाथजी आदि सव ब्रह्मचारियों ने अधिष्ठाता पद के लिए वहुत आग्रह किया, तव आपने उपाधिष्ठाता पद स्वीकार किया। ईसरी रहते हुए अल्पकाल में ही आपने अपनी असाधारण योग्यताओं से यहां के सभी धीमान, ब्रह्मचारियों, विद्वानों व त्यागियों का तथा आगंतुक श्रीमानों का सहज मन मोह लिया। विहार प्रान्त के सभी लोगों की आपके प्रति आस्था व आकर्षण है।

<u>आदर्श व विद्वान त्यागी (शान्तिमूर्ति):</u>—इस प्रकार आप एक सुयोग्य विद्वान हैं। आपकी प्रवचन शैली बहुत सुन्दर है, जो स्वयं के हृदयको स्पर्श करती हुई श्रोताओंके हृदय को स्पर्श करा देती है। आपके कण्ठ में मधुरता है, चेहरे पर शान्ति है। सन् १६६६ में नागपुर समाज के आमंत्रण पर आप दसलक्षण पर्व पर नागपुर गये। आपके सद्गुणों से सभी महानुभाव अत्यन्त प्रभावित हुए। वहां आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन में आपके प्रवचन को सुनकर सब आनन्द-विभोर हो गये। नागपुर से लौटने पर आप ५ दिन जबलपुर रुके। वहां की समाज भी बहुत प्रभावित हुई और समाज ने आपकी संगति से अधिकाधिक लाभ उठाने की अपनी अभिलाषा प्रकट की।

आपकी आत्मा वैराग्य से ओत-प्रोत है। ज्ञानार्जन और तत्व-चिन्तनामें उपयुक्त रहकर आप पूर्ण आत्मविशुद्धता की प्राप्ति में तल्लीन हैं। निकट भविष्य में आपकी सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार करने की अभिलाषा है। आप मौन रूप से शान्ति मार्ग के पथिक हैं। सबके लिए आदर्श स्वरूप हैं। अधिक क्या लिखें "होनहार विरवान के होत चीकने पात" की कहावत के अनुसार आपके सम्बन्धमें सबका कहना है कि आप हमारे तीसरे वर्णी जी हैं।

यहां की परम पुनीत निर्वाण भूमि तथा आत्म-साधना के योग्य मनोग्यक्षेत्र व वातावरण का होना, आश्रम की सम्पूर्ण दिनचर्याका सुन्दर संचलन व स्व० पूज्यश्री गणेशप्रसाद जी वर्णी का समाधिस्थल उल्लेखनीय विशेषतायें हैं, जिनसे आप विशेष प्रेरणा के पात्र बने हुए हैं। मेरी हार्दिक भावना है कि यह पवित्र आत्मा स्वपर कल्याण करती हुई अधिकाधिक उत्कर्षता प्राप्त करे तथा सभी कल्याणार्थी यहां से प्रेरणा प्राप्त कर अपना जीवन सार्थक बनावें।

दि० ६-८-६६

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

पर्वराज पर्यूषण और इसको सम्पन्न करने की विधि

प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष भी पर्वराज पर्यूषण का शुभागमन हुआ है। अन्य पर्वोंकी तरह यह पर्व प्रतिवर्ष आता है, हम आप द्वारा मनाया जाता है, और चला जाता है, परन्तु पर्व का सम्पन्न करना हमारे द्वारा केवल एक परिपाटी व रूढ़िवादिता के रूप में ही देखा जाता है। पर्व किसे कहते हैं ? पर्व किस कोटिका है, इसमें क्या प्राण हैं, वे किस लिए आते हैं, हमें क्या देते हैं, व इन को सम्पन्न करने में हमें किस तरह का कहाँ विवेक रखना है ? आदि बातों के परिचय के बिना केवल दस दिन दस-लक्षण धर्म-पूजन करके क्षमादि दस धर्मों का उपदेश सुन करके संतुष्ट हो जाने मात्र में पर्व की सार्थकता नहीं हैं। अस्तु संक्षिप्त जानकारी पर्व और उसके महत्व के सम्बन्ध में अति आवश्यक है।

पर्व पवित्र उत्सव को कहते हैं। पर्व का अर्थ है पवित्रता। याने पवित्रता का नाम पर्व है। अपने यहां जितने भी पर्व मनाये जाते हैं उन सबको मुख्य रूप से दो कोटियों में रख सकते हैं (१) धर्मपर्व (२) पुण्यपर्व। जो पर्व हमें विभाव परिणमन से छुड़ाकर स्वभावोपासना में लगने की याद दिलावें वे धर्मपर्व हैं, अथवा जिन पर्वों का पर्यूषण कर्मक्षयभावना अथवा आत्मानुभूति की भावना से किया जाता है वे सब धर्मपर्व हैं। जैसे अष्टमी, चतुर्दशी, दस-लक्षण धर्म व रत्नत्रयपर्व, निर्वाण दिवस आदि।

पुण्यपर्व वे पर्व हैं जिनमें पुण्यकार्य व पुण्यभाव की ओर झुकाव होता है। जो पुण्यपुरुष के पुण्यचरित्र का स्मरण करावें व किन्हीं प्रवृत्तियों द्वारा पुण्यकार्य करने के लिए उत्साहित होने की शिक्षा देवें वे सब पुण्यपर्व हैं। जैसे अष्टान्हिका व जन्म-जयन्ती पर्व आदि।

पर्यूषणपर्व परमपुनीत धर्मपर्व है और इस पर्व का महत्व बहुत अधिक है। यह पावन पर्व सर्व पर्वों का सम्राट है। इसे पर्वराज कहते हैं क्योंकि इस समय अनेक व्रत व अन्य पर्व पड़ते हैं। इसका दशलक्षण पर्व नाम अधिक प्रचलित है, क्योंकि इसमें हम दस दिनों में प्रतिदिन क्रमशः उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिन्चन्य व ब्रह्मचर्य इन दस धर्मों की भावना भाते हैं, उपासना, अराधना व साधना करते हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच धर्म ये चारों क्रम से क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के प्रतिपक्षी हैं। इन क्रोधादिक कषायों से ही पांच प्रकार के पापों में प्रवृत्ति होती है। अस्तु पांच प्रकार के पापों के अभाव से पांच धर्म प्रकट होते हैं। हिंसा पाप के अभाव से संयम, झूठ के अभाव से सत्य, चोरी के अभाव से त्याग, परिग्रह के अभाव से आकिन्चन्य व कुशील के अभाव से ब्रह्मचर्य धर्म प्रकट होता है तथा तप से निर्जरा होकर पूर्ण धर्म की उपलब्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त होती है। अस्तु इन उत्तम क्षमादि दस धर्मों पर ही वीतराग रूप धर्म की इमारत खड़ी होती है। 'वत्थु सहावो धम्मो,' वस्तु का जो स्वभाव है वह धर्म है। ये दस धर्म आत्मा वस्तु के स्वभाव होती हैं अस्तु आत्म स्वभाव की उपासना करके पर्व का मनाना सार्थक है। यथार्थ में आत्मा की निर्मल या वीतराग परिणति का होना ही धर्म है और वह इन उत्तम क्षमादि

धर्मों की, उपासना से प्रकट होती है। इस प्रकार ये पर्व हमें निर्मल बनने की, वीतरागमय बनने की शिक्षा देते हैं।

गतवर्ष से इस वर्ष हमारी आत्मा में कितनी निर्मलता आयी, हममें कषाय और पाप की मंदता कितनी हुई, इस बात का लेखा जोखा हमें इन दिनों में करना है व पाठशाला की तरह दस धर्मों का पाठ पढ़कर व्यवहारिक जीवन के प्रत्येक क्षणों में इनको प्रयोग में लाना है। हमारी पूजन प्रक्षाल व व्रत उपवास आदिक बाह्य क्रियाओं के साथ-साथ हमारे मन का मैल निकल जाना चाहिए, कलुषतायें मिटना चाहिए और अन्तर में विशुद्धता प्रकट होना चाहिए। तभी आत्मानुभूति की जा सकती है। यदि अन्तर में विषय कषायों व भोगों से अरुचि नहीं हुई तो मोक्ष मार्ग की पहिचान से हम दूर रहते हैं और आत्म लाभ हमें नहीं हो पाता। भगवत् भक्ति गुरू उपासना और स्वाध्याय करने का अभिप्राय दोषों को छोड़कर निर्दोष बनने का होना चाहिए। रागद्वेष की प्रवृत्ति हममें कम हो, सर्व स्नेह और सर्वविकल्प भुलाकर यदि ज्ञानवृत्ति रूप, परमविश्राम रूप आध्यात्मिकता हममें प्रकट हो तो यही पर्व मनाने की वास्तविक सार्थकता है, और इसी में हमारी आत्मा का लाभ है।

आज का नवयुवक धर्म से उदासीन है। वह भौतिकता में आसक्त है और भौतिकता को ही उसने जीवन का सार माना है। साथियों! "धर्मरहित आत्मा भावमुर्दा है" इस बात को ध्यान में रख हमें निश्चय कर लेना चाहिए कि जगत में विषय प्रवृत्ति सार नहीं। भौतिक उपलब्धि असार है, महती मूढ़ताभरी विडम्बना है। न कुछ असार जैसी बातों में बहकर यदि इस अति उत्कृष्ट चैतन्य महाप्रभु का तिरस्कार करने में अपन लगे रहेंगे तो यह बात बहुत

पछतावे की होगी। अस्तु ये पर्व हमें निर्देश करते हैं कि हम वहिरात्मा से अन्तरात्मा वनें और अपनी इन चित्तवृत्तियों को रोककर परमात्मतत्वका आश्रय लें।

उत्तम क्षमा

आज से दशलक्षणधर्म पर्वका प्रारम्भ हो रहा है। इस दशलक्षण धर्म के मुख्य दो नाम प्रसिद्ध हैं (१) दशलक्षण धर्म पर्व (२) पर्यूषण पर्व। दशलक्षण धर्म पर्व नाम की प्रसिद्धि तो इसलिए है कि इन दश दिनों में हमारे द्वारा आत्मा की दसस्वभाव रूप पर्यायों का आराधन किया जाता है। अस्तु इसका नाम दशलक्षण धर्म पड़ा, और पर्यूषण का अर्थ है पूर्ण रूप से रागद्वेषादिक विकार परिणतियों को समाप्त करना, जलाना। तो ये काम इन दस दिनों में प्रमुखता से किये जाते हैं इसलिए इस दशलक्षण धर्म की वड़ी मान्यता है। इस पर्व में किये जाने वाले दशलक्षण रूप धर्म को केवल इन दिनों में ही नहीं किया जाना है। अरे ये तो सदा ही किये जाने हैं। निरन्तर पालते रहने के हैं।

ये दश लक्षण धर्म तो इस आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। ये तो इस आत्मा के ही पर्व हैं। ये पर्व तो इस आत्मा के लिए मंगल रूप हैं। ये तो सदा ही पालने के हैं। पर ये दश दिन दश लक्षण पर्व के इसलिए निर्धारित किये गये हैं कि ये हम आपको वार–वार इन दशलक्षण धर्मों को पालने की याद दिलाते हैं। हम आप में जो रागद्वेष मोहादिक विकार चला करते हैं उनका शमन करने के लिए ये पर्व हमको बार–बार याद दिलाया करते हैं। इन दस दिनों में इन रागद्वेप आदिक विकार भावों से हटकर

अपने आपकी आत्मानुभूति रूप भावना में यत्न रहा करता है। ऐसा यत्न हम आपको केवल इन दस दिनों में ही नहीं करना है बल्कि सदा करते रहना चाहिए। इसी बात की याद ये दशलक्षण पर्व के दिन कराते हैं। पर्व नाम है पवित्रता का। आत्मा में पवित्रता लाने की तैयारी करना है इस दशलक्षण पर्व को मना कर।

देखिये—अभी हम आप सबने एक रक्षा-बन्धन पर्व मनाया था कुछ दिन पहले। तब से लेकर आज दिन तक घर-द्वार, मंदिर मूर्ति आदिक की कितनी-कितनी सफाईयाँ करते रहे लेकिन जरा अपने आप के अन्तरंग को टटोल कर देखें अपने अन्दर इन राग-द्वेष मोहादिक विकार भावों की कुछ सफाई हुई कि नहीं। और यदि कुछ सफाई हुई हो तब तो इतनी बाहरी सफाईयाँ करने से लाभ रहा, नहीं तो क्या लाभ पाया? मूल में स्वच्छता करना है अपने अन्तरंग भावों में। इन पर्यूषण पर्वों में ही जगह-जगह प्रतिमाओं का मंजन किया जाता है तो मंजन करते-करते चाहे प्रतिमा तो घिस जाय मगर अपने अन्दर बैठे हुए ये रागद्वेष-मोहादिक विकार न घिसें तो उससे लाभ क्या रहा? अरे मूल में काम करने का यही है कि इन विकार भावों को नष्ट करें, अपने आत्मा को स्वच्छ बनायें।

यह आत्मा स्वभावतः जिस स्वरूप वाला है उसको उस स्व-रूप में लायें। अपनी वर्तमान पर्यायों को देखिये इस पवित्र आत्मा की कितनी विकृत पर्यायें हो रही हैं। अरे इन दशलक्षण पर्व में इन दशलक्षण रूप धर्मों को अंगीकार करें। इन धर्म के दशलक्षणों को अपने जीवन में उतार कर उत्तम चारित्र रूप में परिणत करें। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह पर्व भादों सुदी ५ से ही

क्यों मनाया जाता है ? तो इसका हेतु शास्त्रों में आया है कि जब अवसर्पिणी काल का अन्तिम समय होता है तो प्रलय पड़ता है। इस प्रलय के बाद सावन कृष्णा १ से लेकर ४९ दिन की सुवृष्टि होती है। तो उसके हिसाब से यह भादों सुदी ५ आती है। उस सुवृष्टि के समय जो जीव किसी तरह प्रलय काल में बच गये थे गुफाओं में छिपकर, सो वे उस काल में बाहर आते हैं। उनके आचार–विचार की विशेष वृद्धि होने लगती है, लोगों में प्रसन्नता बढ़ती है, इसलिए भादों सुदी ५ के दिन से यह पर्व प्रारम्भ होता है। वैसे तो इस पर्व को वर्ष में तीन बार मनाया जाता है माघ, चैत और भाद्र पद में। पर खास करके भाद्रपद की ही विशेषता और प्रसिद्धि है। इस पर्व का बहुत बड़ा महात्म्य है।

आज दशलक्षण पर्व का प्रारम्भिक दिवस है। आज उत्तम क्षमा पर बात चलेगी। उत्तम क्षमा क्या है ? आत्मा का जो धर्म है, स्वभाव है, ज्ञातादृष्टा रहना, उस स्वभाव के अनुसार अपना प्रवर्तन बनाना, क्रोधादिक न करना, सो उत्तम क्षमा है। क्रोध के अभाव में यह धर्म होता है। यहां क्षमा के साथ उत्तम विशेषण लगा हुआ है, उसका अर्थ है कि इस आत्मा में जो भी रागादिक विकारभाव, कषाय भाव उत्पन्न हो रहे हैं उनको विशेष रूप से नष्ट करना सो वास्तविक उत्तम क्षमा है। इन विकार भावों के नष्ट होने से अपने आत्मा में वास्तविक निर्मलता प्रकट होती है, यही वास्तविक क्षमा है। आत्मा का उत्तम धर्म वहां ही प्रकट होता है जहां सम्यदर्शन गुण की प्राप्ति हो। जहाँ बिल्कुल विशुद्ध भावनारूप रत्नत्रय हो उस रत्नत्रय की विशुद्ध भावना में प्रथम रत्न है सम्यग्दर्शन। इसीलिए कुन्दकुन्दाचार्य देव ने कहा है— "दंसणमूलोधम्मो" याने धर्म की जड़ सम्यग्दर्शन है। तो

सम्यग्दर्शन पूर्वक जो क्षमा हो वह है उत्तम क्षमा।

कोई लोग ऐसा समझते हैं कि उत्तम क्षमा तो मुनियों के ही हो सकती है। हम गृहस्थों के नहीं, तो उनका यह कहना मिथ्या है। यह बात अवश्य है कि मुनि के क्षमा विशेष रूप से है और गृहस्थों के आंशिक रूप से है। अगर कोई ज्ञानी गृहस्थ है तो वह उत्तम क्षमा का पात्र बन सकता है। मुनियों के तो उत्तम क्षमा विशेष रूप से बनती ही रहती है यह क्षमा रूप धर्म ही हम आप का हितकारक है। पहिली बात यह है कि जो क्षमा की जाय अथवा जो भी क्षमा की परिणति बनी वह परिणति आत्मा की परिणति है, विभाव रूप परिणति नहीं है। इस स्वभाव परिणति से ही आत्मा का विकास होता है। ये क्रोधादिक विकार आत्मा की विभाव परिणतियां हैं। इनसे इस आत्मा का पतन होता है। उत्तम क्षमा का एक दृष्टान्त देखिये— भगवान पार्श्वनाथ पर कमठ ने कितना उपसर्ग किया, लेकिन वे इस तरह से आत्मध्यान में तल्लीन रहे कि रंच भी विचलित न हुए। उस कमठ पर उन्हें रंच भी द्वेष न जगा। यह है उत्तम क्षमा। और भी जैसा कि रक्षा-बन्धन पर्व के दिन हम आप ने पढ़ा था कि अकम्पनाचार्य आदिक ७०० मुनियों पर उपसर्ग किया गया लेकिन वे मुनिराज आत्मध्यान में तल्लीन रहे तथा बलि आदिक मंत्रियों को क्षमा देकर उन्हें सुधार मार्ग पर लाये और वे जैन धर्म के प्रति द्वेष रखने वाले बलि आदि मंत्री भी अपना कल्याण कर गये। तो क्षमा गुण एक ऐसा गुण है कि जिसके होने पर सर्व ऋद्धि समृद्धियों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार अग्नि से जल गर्म होता है, अब जल को इस अग्नि पर चढ़ा दिया जाय और कितने ही ऐसे मंत्र जपे जावें कि ऐ जल तू गर्म मत होना, शीतल ही रहना, तो क्या उन

मंत्रो के इस तरह जपने पढ़ने से जल का गर्म होना कहीं मिट जायगा ? नहीं मिट सकता। ठीक इसी प्रकार ये क्रोध, मान, माया, लोभादिक विकारों को कितने ही मंत्र तंत्र द्वारा दूर किया जाय तो क्या ये दूर हो सकेंगे ? नहीं। गर्म जल को ठंडा करने के लिए अग्नि का संयोग हटाना होगा, इसी प्रकार क्रोधादिक विभाव भावों को समाप्त करने के लिए क्षमादिक धर्मों को अपनाना होगा। जैसे कहा है ना कि—

मिश्री मिश्री के कहे, मुख मीठा नहीं होय।
मिश्री चाखे के विना, मुख मीठा क्या होय ?
सुख हो, सुख हो के कहे, कभी न सुख यों होय।
सुख के काम किये विना, सुख कहाँ से होय ?

यद्यपि प्रभु की शरण में जाने से इन विकार भावों में कुछ फर्क तो आयगा, पर इस तरह से वे विकार भाव दूर न हो सकेंगे। अरे इनके दूर करने के लिए तो अपने आपके उस ज्ञाना-नन्द प्रभु की शरण में आना होगा। मूल में काम हम आपको यही करने का है कि इन विभाव भावों से हट कर अपने सत्य स्वभाव में आयें, यही आत्मा की उत्तम क्षमा है।

लोक में चाहे कोई कैसे ही शब्द कह दे प्रशंसा के अथवा निन्दा के, उनमें रुष्ट तुष्ट न होना चाहिए। अपने आपके अवि-कार स्वभाव का ध्यान करके इन विकार भावों को नष्ट करें, उन्हें पराजित करें, यही है सम्यग्दर्शन पूर्वक क्षमा। गृहस्थों की क्षमा के अब कुछ दृष्टान्त देखिये— जिस समय श्रीराम ने रावण पर चढ़ाई की तो उस समय भी उनके आशय में रावण के प्रति शत्रुता का व्यवहार न था। उनका आशय निर्मल था, तभी तो

बार-बार वे कहते रहे कि हे रावण तेरे से युद्ध करके मैं लंका पर राज्य नहीं करना चाहता। लंका का वैभव नहीं चाहता। मैं तो यही चाहता हूँ कि तू मेरी सीता को मुझे दे दे। यह है आदर्श पुरुषों की उत्तम क्षमा। आखिर जब रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा था तो श्रीराम के मित्रों ने कहा कि अब मौका है रावण को बाँध कर लाने का, उसकी पूजा में विघ्न डालने का, तो श्री राम का यही उत्तर था कि ये विद्याधरो, क्षत्रीपुरुषों का यह काम नहीं, वह तो धर्म का कार्य कर रहा है और हम उसको ऐसे कार्य में विघ्न डालें, यह थी श्रीराम की उत्तम क्षमा। यह था विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन का प्रभाव। अब एक ऐतिहासिक दृष्टान्त लीजिये—पृथ्वीराज पर मुहम्मद गौरी ने ७ बार चढ़ाई की, पर पृथ्वीराज का उसके प्रति सदा ही ऐसा क्षमा भाव रहा कि उस पर आक्रमण नहीं किया परन्तु हर-बार समझाकर छोड़ दिया। उसका कुछ भी न छीना। आत्मरक्षा करना अभीष्ट थी हो गई, आगे कुछ नहीं किया, क्योंकि उसे मुहम्मद गौरी के प्रति कोई द्वेष न था। पृथ्वीराज वीर था, क्षमा उसका भूषण था। अपनी क्षमा के कर्तव्य को भूल कर वह कायर नहीं बनना चाहता था। वास्तव में हम सुख चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम क्षमा को अपने जीवन में उतारें। इसके अभाव में बिना सींग पूँछ वाले पशु बनें रहना शोभास्पद नहीं। कितना सुन्दर लिखा है—

सत्य बात तो यह है मित्रो, क्रोध जीव का बैरी है।
क्षमा बन्धु है, क्षमा मित्र है, धरो इसे क्या देरी है॥

जब तक मानव के हृदय में क्रोध के संस्कार रहेंगे कदापि क्षमा का धारी नहीं हो सकता। वह घर में रहे या बन में क्षमा के अभाव में दुःखी तथा भयभीत रहेगा। क्षमा की आचार्यों ने बहुत प्रशंसा लिखी है। वे कहते हैं—

क्षमयाक्षीयतेकर्म, दुःखदंपूर्व संचितम् ।
चित्तंच जायते शुद्धं, विद्वेप-भयवर्जितम् ॥

अर्थात् क्षमा के द्वारा पूर्व उपार्जित दुःखदायी कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा चित्त विद्वेप और भय से रहित होकर पवित्र वन जाता है। तो ऐसे ही वहुत से आदर्श गृहस्थ होते हैं जिनका आशय वड़ा ही निर्मल होता है वे उत्तम क्षमा को अंगीकार करते हैं। यह क्षमा वीरों का भूपण है। 'क्षमा वीरस्यभूपणं" !

हम आपका मूल कर्तव्य यह है कि इन रागद्वेप मोह, क्रोध, मान, माया, लोभादिक विकारों को, विभावों को दल दें, उन्हें दण्ड दें, किसी की प्रतिकूल परिणति को निरख कर उससे द्वेप न करें, उनके प्रति क्रोध भाव न लायें। क्रोधी पुरुप की दृष्टि कुक्कर दृष्टि कही गई है। जैसे कुत्ते को कोई लाठी मारे तो वह लाठी को ही चवाता है। उसकी दृष्टि ऐसी ही वनती है कि इस लाठी ने मुझे मारा। उसको सही ज्ञान नहीं हो पाता है कि मुझे मारने वाली यह लाठी नहीं है वल्कि यह सामने खड़ा हुआ पुरुप है। और किसी सिंह को कोई वन्दूक मारे तो वह वन्दूक पर प्रहार नहीं करता, सीधे वन्दूक मारने वाले व्यक्ति पर प्रहार करता है, क्योंकि उसको सही ज्ञान है कि हमको मारने वाली यह वन्दूक नहीं, वल्कि यह पुरुप है। यह फर्क है ज्ञान और अज्ञान का। तो इसी तरह से समझ लीजिये कि क्रोधी पुरुप को यह ज्ञान नहीं हो पाता कि इसमें अपराध किसका है। अपराध तो होता है किसी का और वह समझता है किसी का। अरे विजय करना हैं इन क्रोधादिक कपायभावों पर, स्वयं के रागादिक विकार विभावों पर।

एक अपने आप में उठने वालीं इन असत् कल्पनाओं को मिटा दें, वस फिर क्रोधादिक विकारों की गुंजाइश न रहेगी।

संस्कृत में क्षमा कहते हैं पृथ्वी को। तो जैसे पृथ्वी पर सभी लोग टट्टी, कूड़ा आदि भी डालते हैं, कुदाली वगैरह से खोदते भी हैं, फिर भी पृथ्वी की ओर से सब क्षमा है। वह तो गम्भीर ही रहती है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अज्ञानियों की समस्त प्रवृत्तियों को निरख कर उनके प्रति क्षमा भाव को धारण करते हैं। वे सर्व स्थितियों में अपने को ज्ञायक मात्र बनाये रहते हैं। उनके सर्व स्थितियों में ज्ञेयों को निरख कर विकार भाव न होने से क्षमा भाव बना रहता है।

हम आप इस क्षमा का पाठ उस तरह से पढ़ें जिस तरह युधिष्ठर ने पढ़ा था। जब गुरु द्रोणाचार्य अनेक शिष्यों को पढ़ा रहे थे तो उनको एक पाठ याद करने को दिया "क्षमां कुरू" अब क्या था, सभी शिष्यों ने पाठ रट लिया और दूसरे दिन गुरूद्वारा पूछे जाने पर शिष्यों ने झट पाठ सुना दिया। परन्तु जब युधिष्ठर की बारी आयी तो यह पाठ न सुना सके। कह दिया कि हमें अभी याद नहीं हुआ है। आखिर गुरु को क्रोध आया, बेंत मारना शुरु किया तो युधिष्ठर बराबर हंसते रहे। बाद में बोले– हाँ महाराज अब आज पाठ मुझे याद हो गया। कैसे ? जब आपके द्वारा पिट चुका तब भी मुझे क्रोध न आया तब मैंने समझा कि वास्तव में अब मुझे याद हो गया। इससे गुरु पर भी बड़ा असर पड़ा उन्होंने समझ लिया कि हाँ वास्तव में पाठ याद करने का सही ढंग यही कहलाता है। तो ऐसे ही उत्तम क्षमा को हम और आप प्रायोगिक रुप से धारण करें तभी हम आपका कल्याण है।

यों तो उत्तम क्षमा का दिन हर वर्ष में आता है, पर्व भी न जाने आज तक हमने कितने ही मनाये हैं, पर यों ही उत्तम क्षमा आदि का पाठ सुन लिया और उसे चित्त में धारण न करके उतार

दिया तो बताइये ऐसे पाठ सुनने से क्या लाभ पाया ?

एक बात पर और भी विचार करें कि गाली के जिन शब्दों को सुनकर लोगों को क्रोध उमड़ पड़ता है वे शब्द हैं कितने अच्छे। वास्तव में भैया ! गाली है क्या ? दुनिया में गाली का कोई शब्द ही नहीं है। गाली का प्रचार ही नहीं हुआ है, किन्तु छोटे पुरुषों से बड़ी बातें कहीं बस उसने उसे गाली समझा। जैसे किसी गरीब आदमी से आप कहो कि आइये कुबेर जी आइये, तो वह व्यक्ति उन वचनों का क्या अर्थ करेगा ? वह तो अपनी निन्दा ही समझेगा, इसी तरह छोटे आदमी से बड़े वचन कहे, जिसमें जो योग्यता नहीं उसे प्रशंसा के शब्द कहे किन्तु उन पुरुषों ने उसे गाली समझा। शब्द को ही देख लो ना, गाली, अर्थात् गायी क्या जाती है ? प्रशंसा ही तो गायी जाती है। गाली के सब शब्द कितने अच्छे हैं, उनका अर्थ क्या है इस पर विचार कीजिये ! जैसे किसीने कहा— पाजी, पाखण्डी, कुलच्छी, उचक्का, पुँगा, निपोरा, नंगा आदि। पाजी का क्या अर्थ है? जो पापों को जीत ले, अर्थात् सिद्ध भगवान्। पाखंडी का अर्थ है पापों का खंडन करने वाला अर्थात् अरहंत सिद्ध। कुलच्छी का अर्थ है अच्छे कुल वाला, उचक्का का अर्थ है ऊंचे कुल का, पुँगा का अर्थ है श्रेष्ठ पुरुष, निपोरा का अर्थ है नि मायने नहीं, पोर मायने गाँठ अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की गाँठ न हो, ऐसा निष्कषाय पुरुष। नंगा का अर्थ है निष्परिग्रही साधु। इसी प्रकार जानवर, जान मायने ज्ञान, वर मायने प्रधान अर्थात् जो ज्ञान में प्रधान हैं। तो देखिये—ये जितने भी गाली के शब्द हैं वे कितने ऊंचे व्यक्ति का संकेत करते हैं, पर ये मोही मलिन अज्ञानी प्राणी इन शब्दों का अर्थ न जान कर उन्हें गाली रूप में मान लेते हैं और इन शब्दों को सुनकर रुष्ट हो जाते हैं। ज्ञानी पुरुष इन शब्दों को सुनकर प्रथम तो यह विचार करता है

कि ऐसा वचन बोल कर मुझे यह सावधान कर रहा है, सचेत कर रहा है। मैं क्यों व्यर्थ में इन शब्दों को सुनकर रोष करूं। और फिर इसका यह शब्द कोई मुझे शारीरिक पीड़ा तो नहीं दे रहा है जिससे मुझे कोई कष्ट हो जाने वाला हो, ऐसा विचार करके वह रूष्ट नहीं होता, बल्कि सावधान होता है, और उसको उपकारी देखता है। वह जानता है कि अपने आपको सावधान रखने में ही अपनी रक्षा है। तो यही है उसकी वास्तिविक उत्तम क्षमा।

ज्ञानी पुरुष तो इन प्राणों की बाजी आ जाने पर भी अपने प्राणों तक की भी अपेक्षा नहीं करते। वे तो अपने ज्ञानस्वभावी निजआत्म स्वरूप की रक्षा करते हैं और उस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्व में ही निमग्न होकर, रक्षित होकर अपने आपको सुखी अनुभव किया करते हैं।ऐसी ही उच्च भावना हम आप बनावें तो सही रूप में उत्तम क्षमा प्रकट होगी। जैसे कहा है ना कि–

कष्टे प्राणानुपेक्षन्ते, ज्ञानं रक्षन्ति योगिनः।
ज्ञानंज्ञाय प्रियं तत्स्वे, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥

अर्थात् योगीजन कष्ट उपसर्ग होने पर प्राणों की उपेक्षा करते हैं और ज्ञान को रक्षित करते हैं, क्योंकि निश्चय से ज्ञानी के लिए ज्ञान ही प्रिय है। वह ज्ञान स्वमें ही तो है इसलिए अब स्वमें स्वके अर्थ स्वयं सुखी होऊं। अस्तु क्रोधाग्नि को बुझाने के लिए क्षमा के अतिरिक्त और कोई शीतल धारा नहीं हैं।

कोई सोचे कि भगवान का ऐसा उपदेश है इसलिये हमको सबके प्रति क्षमा भाव रखना चाहिए अथवा क्षमा भाव रखने से स्वर्गादिक की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, अथवा अगर हम क्षमा भाव नहीं करेंगे तो हमारी प्रतिष्ठा में धव्बा लग जायगा, तथा

क्रोध करने से नरकादिक गतियों में जाना पड़ेगा आदि ऐसी अनेक बातों को रख कर कोई उत्तम क्षमा धारण करना चाहे तो वहाँ वास्तव में उत्तम क्षमा का धारण नहीं हो पाता। अरे चित्त में तो कोई कषाय भाव लिए बैठे हैं, क्रोध वासनाओं की समाप्ति ऐसे प्रयोजनों में कहां ? जहाँ अपने क्षमाशील आतमस्वभाव का परिचय नहीं हो पाया। उत्तम क्षमा का धारण तब हो सकेगा जबकि यह परिचय हो जाय कि मेरा यह आत्मा सहज ही उत्ताम क्षमा स्वभाव वाला है। एक जगह पं० गोपाल दास जी वरैया ने अपनी स्मृति में लिखा है कि एक बार सर्दी के दिनों में मैं बाहर गया हुआ था। सो रात्रि को मैं घर आया। मेरी स्त्री सो रही थी। मैंने दरवाजा खटखटाया, स्त्री जगी और गुस्सा भरे शब्दों में बोली—कौन दरवाजा खटखटा रहा है ? (उनकी स्त्री क्रोधी प्रकृति की थी) तो मैंने धीरे से बताया, तो उसने किवाड़ तो खोल दिये, पर इतना क्रोध उसे नींद में बाधा होने से आया कि वहाँ रखा हुआ अत्यन्त ठंडा जल मेरे ऊपर डाल दिया। मैंने शान्त भावसे कहा कि तुम अब तक तो गर्जी थीं मगर आज बरस भी गयी हो। आखिर अपने क्षमा स्वभाव से उन्होंने जीवन भर अपनी स्त्री से यही कहा कि तूंने बहुत अच्छा किया जो मेरे लिये कर्म निर्जराका कारण तो बनी। तो देखिये—यह है आदर्श गृहस्थ की उत्तम क्षमा।

अब कहते हैं कि किसी के द्वारा अपकारके, अपयशके अपशब्दोंके वचन कहे जानेपर भी अपने आपको सावधान बनाये रखना चाहिए और उसके प्रति क्षमाभाव ही लाना चाहिए। उस समय यही सोच लेना चाहिए कि यह मुझे अपशब्द कहकर मुझको सावधान कर रहा है तथा यह पुरुष मुझे गाली देकर अपयश, निन्दाके वचन बोलकर खुश हो रहा, तो चलो मैं इसके

काम तो आया। भला मेरे द्वारा इसको सुखतो पहुँचा। दूसरेको खुश करनेके लिए लोग तो बहुत-बहुत कुछ देकरके भी खुशकरते हैं परन्तु यह तो मुफ्त में ही खुश होगया, ऐसे पावन विचारोंके द्वारा उत्तम क्षमा का अवसर प्राप्त होता है। इसी प्रकार भगवती दास, बनारसीदास आदिके दृष्टान्त मिलते हैं। एक बार बनारसीदासजी पेशाब करने के लिए रात्रिके समयमें राज दरबार से निकले, तो बाहर निकलकर रास्तेमें ही पेशाब करने बैठ गये। वहाँ पर था रात्रिमें पहरा देनेवाला नौकर, उसने बनारसीदासके दो तीन थप्पड़ मार दिये इसका पता राजाको लगा, तो राजाने उस नौकरको अपने पास बुलाया, वह बेचारा डरता हुआ, कांपता हुआ राजाके पास गया। जब उसने वहां बनारसीदासजी को देखा तो और भी भयभीत होगया। सोचा कि आज तो शायद मुझे बड़ा कड़ा दण्ड मिलेगा। तो उस समय बनारसीदासजी ने राजासे कहा कि इस नौकर को आप कितने रुपये महावार वेतन देते हैं? तो राजाने कहा—१०) माहवार। बनारसीदासजी बोले—इसके २) महावार और बढ़ादीजिये, क्योंकि वह अपनी डयूटी का पक्का निकला। मैंने रास्तेमें पेशाब किया तो इसने पेशाब करने से मना ही तो किया। यह है उनका, हम सबको उत्तमक्षमा का पाठ पढ़ानेवाला जीता जागता उदाहरण।

एक दृष्टान्त और भी देखिये—कोई एक फकीर था, वह किसी गांवके निकट ठहरा हुआ था। उस गांवके किसी दुष्ट पुरुषने उसको कुछ अपशब्द कह दिये—उन मर्मभेदी शब्दोंको वह फकीर बड़ी तन्मयतासे सुनता रहा। जरा भी विकार भावोंको प्राप्त नहीं हुआ। जब उस व्यक्तिने अपशब्द कहना बन्द कर दिया तो फकीर बोला—भैया, जरा उन्हीं शब्दों को आप पुनः दुहरा देने का कष्ट कीजिये तो वह पुरुष बोला—अरे मेरे उन शब्दोंमें ऐसी

क्या वात है जो तुम उन्हें दुहरानेके लिए कहते हो ? तो वह फकीर कहता है कि अरे तुमने तो उन शब्दोंके कहनेमें इतना श्रम कर लिया कि हांफ भी गये, पसीना भी आगया, आंखेंलाल हो गई, सारा शरीर कांप गया, वड़ा श्रम कर डाला आपने और हम उनको शान्तिसे सुनभी न सकें तो फिर मुझसे अधिक पतित और कौन होगा ? तो देखिये—फकीर के ऐसे शब्दों को सुनकर हम आप भी ऐसी शिक्षा लें कि कोई चाहे कितने ही अपशब्द कहे पर उससे रोप न लायें, उस पर क्षमा भाव धारण करें।

और भी एक दृष्टान्त है कि कोई एक कंजूस सास थी, उसका दामाद एक वार उसके घर आया तो सास ने सोचा कि अव तो हम वड़े खर्चे में पड़ जायेंगे, रोज अगर हलुवा पूड़ी वनाई तवतो तीन चार रुपये का नुक्ता रोज वैठेगा, सो निश्चय किया कि रोज खिचड़ी वना दिया करेंगे। सास बोली उस दामाद से कि वेटा तुमको हम ऐसा भोजन करायेंगे जिससे तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा रहे। अच्छी वात। पहिले दिन सास ने खिचड़ी वनाई। जव दमाद खाने वैठा तो उसमें घी तो डाला न था सो वह एक-एक दाना उठाकर खा रहा था। सासू जी ने यह देखकर कहा कि एक-एक दाना उठाकर क्यों खा रहे हो ? वोला-घी के विना खिचड़ी अच्छी नहीं लगती, घी तो डाल दीजिये। सो पास में एक घी का डवला रखा था, जाड़े के दिन होने से घी जम गया था। सास ने सोचा चलो घी की हवा तो थाली में दिखा ही दें सो उस डवले को उसकी थाली में औंधा दिया। घी तो गिरा नहीं, पर कहा-अच्छा लो यह घी की गंध ही लेलो। दमाद ने सोचा कि इतनी होशियार सास है कि इसके साथ हमारी कोई कला ही नहीं चलती। सो उसे एक उपाय सूझा। अपने पास

जलसे भरे हुए गिलास को लुढ़का दिया सो सारा जल जमीन में बह गया। सास उस गिलास में जल भरने चली गयी, इसी बीच में दामाद ने क्या किया कि पास में जलने वाली आग में उस घी के डवले को तपाकर यथास्थान रख दिया। सारा घी पिघल गया, और फिर वह पहिले की ही भाँति एक-एक दाने को उठा-उठा कर खाने लगा। जब सास पानी भर कर गिलास लायी तो पूँछा बेटे अब तुम क्यों नहीं खिचड़ी को अच्छी तरह खाते ? तो वह बोला-क्या करूं मां जी अभी इस खिचड़ी में घी पड़ा ही नहीं है। थोड़ा घी और डाल दो। इस बार जब घी की उसी डबली को पहिले की ही भाँति उसने थाल में औंधाया तो सारा घी थाल में आ गया। अब तो सास बहुत घबड़ायी मगर फिर सास को एक उपाय सूझा। क्या उपाय किया कि दामाद से बोली कि बेटा तुम हमें बहुत प्रिय हो, तुम पर हमारा बहुत स्नेह है। हमारा जी चाहता है कि आज अपन दोनों एक साथ बैठकर इसी थाली में खिचड़ी खावें। अच्छी बात। जब सास खिचड़ी खाने लगी तो दामाद को तो बातों में लगाये हुए थी कि देखो बेटा तुम्हारे भैया हमारी लड़की को यों कहते हैं, तुम्हारे पिता उसको यों कहते हैं, तुम्हारी माँ उसको यों बोलती है आदि, और एक हाथ से वह थाली का सारा घी अपनी ओर करती जाय। अब वह दमाद सोच रहा था कि देखो यह सास कितनी चालाकी हमारे साथ खेल रही है। तो उसने भी एक उपाय किया। अपनी कला दिखायी उसने थाल उठाया और बोला कि देखो तुम्हारी लड़की को चाहे जो कोई कुछ भी कहे पर उन सारी बातों को तो उसे यों (मुंह में सारा घी डालकर) पी जाना चाहिए। तो इस दृष्टांत से हम आपको यह शिक्षा लेना चाहिए कि कोई हमें कुछ भी कहे उन सब बातों को हमें पी जाना चाहिए। उसमें रुष्ट न होना चाहिए, कषाय भाव न लाना चाहिए। उस

के प्रति उत्तम क्षमा भाव ही धारण करना चाहिए। यही हम आपकी उत्तम क्षमा है। यह क्षमा प्राणियों के संताप को हरनेवाली, चाँदनी के समान अत्यन्त निर्मल और श्रेष्ठ है। ज्ञानीजन उत्तम क्षमा का लाभ चिंतामणि रत्न के समान मानते हैं। क्षमा ही लोक में परम शरण है। माता के समान रक्षा करने वाली है। कर्मनिर्जरा का कारण है। सब उपद्रव दूर करने वाली है। इसी लिए कहा है कि—

मित्र क्षमासम जगतमें, नहीं जीव का कोय।
अरु वैरी नहीं क्रोधसम, निश्चय जानो लोय॥

क्रोध जीव का वैरी है, इस जीव के संयम भाव, संतोष भाव, निराकुलता के भाव को दग्ध करने के लिए अग्नि समान है। क्रोध से यश नष्ट होकर अपयश बढ़ता है। क्रोध में धर्म अधर्म का विचार नष्ट हो जाता है। विवेक जाता रहता है। क्रोधी समस्त धर्म को लोपकर लोकनिन्द्य वचन बोलने लगता है माता पिता, पुत्र, स्त्री, बालक, स्वामी, मित्र को मार कर प्राणरहित तक कर देता है। इतना ही नहीं बहुत तीव्र क्रोधी हो तो अपने आप का ही विप-भक्षण से, शस्त्र से मरण कर लेता है। ऊंचे मकान, पर्वत आदि से गिरता, कुऐं में पड़ता, अस्तु यह क्रोध तो यमराज तुल्य है। महापाप बंध कराकर नरक पहुँचाने वाला है। जैसे द्वीपायन मुनि क्रोध के आवेश में ही आकर स्वयं नरक गया और द्वारिका भी भस्म हो गई। अस्तु इस क्रोध से हानियाँ जानकर इसे छोड़ना चाहिए और क्षमा को अंगीकार करना चाहिए।

वास्तव में उत्तम क्षमा वह है जो वीतरागतरूप हो, मेरा स्वरूप, मेरा स्वभाव किसी भी प्रसंग में क्रोध करने का नहीं है। मैं तो ज्ञानस्वभावी हूं, ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान को ही

भोगता हूं। जानन देखन हार रहना ही मेरा काम है। ऐसी प्रतीति पूर्वक ही उत्तम क्षमा धर्म प्रकट होता है।इसलिए सदैव ऐसा विचार करो—

खम्मामि सव्व जीवाणां, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झं ण केणवि॥

अर्थात् मैं सब जीवों पर क्षमा करता हूँ वे सब जीव मुझ पर क्षमा करें। मेरा सर्व प्राणियों में मैत्रीभाव है, मुझे किसी से भी वैर भाव नहीं है।

इसलिए हे भव्य जीवो! सदैव क्षमा को धारण करो, पूर्व कर्मकृत आये हुए उपसर्गों को समतारूपी जल से ही बुझाना श्रेष्ठ है। हमारा यही कहना है कि चाण्डाल क्रोध पिशाच से पिण्ड छुड़ाकर क्षमा का पथ पकड़ो जिससे जीवन सुखी शान्त और समृद्ध बनेगा। पूजन के इस भाव को याद करो—

पीड़ैं दुष्ट अनेक, बाँध मार बहु विध करैं।
धरिये क्षमा विवेक, कोप न कीजे प्रीतमा॥

उत्तमक्षमा गहो रे भाई, इह भव जस परभव सुखदायी।
गाली सुन मन खेद न आनो, गुन को औगुन कहै अयानो॥

कहि है अयानो वस्तु छीने, बांध मार बहुविध करै।
घर तैं निकारै तन बिदारै, बैर जो न तहां धरै॥

ते करम पूरब किये खोटे, सहै क्यों नहिं जीयरा।
अति क्रोधअग्नि बुझाय प्रानी, साम्यजल ले सीयरा॥

(ॐ ह्रीं उत्तमक्षमा धर्माङ्गाय नमः)

—•••—

उत्तम मार्दव

धर्म तो एक वीतराग रूप ही है । परन्तु वीतरागरूप धर्म के प्रकाशन के लिए भेद दृष्टि निमित्त दृष्टि से दस धर्मों का व्याख्यान किया जा रहा है । यह जो दस धर्मों का व्याख्यान इस पर्यूपणपर्व के दस दिनों में किया जा रहा है उसका मूल प्रयोजन है कि हम इन धर्मों की ग्राराधना करके ग्रात्मा का जो वीतराग विज्ञानघन ग्रखण्ड धर्म है उसकी प्रीति करें । ग्राज उन दस दिनों में दूसरा दिन है । इस दिन मार्दव धर्म की वात चलेगी । मार्दव किसे कहते हैं ? 'मृदोर्भाव मार्दवं', ग्रर्थात् कोमलता के परिणाम का नाम मार्दव है । ग्रात्मा में कठोरता न हो, ग्रभिमान न हो, उद्धतपना न हो ग्रौर इससे विपरीत विनय का होना इसका नाम मार्दव धर्म है । यह मार्दव धर्म मान कपाय के ग्रभाव से प्रकट होता है । मान कपाय का ग्रभाव ग्रथवा इस मार्दव धर्म का प्रादु-र्भाव तव तक नहीं हो सकता जव तक कि मूल में सम्यग्दर्शन न हो । विना सम्यग्दर्शन के तो लोग ग्रपने में ग्रभिमान भरे रहते हैं, जरा भी नम्र नहीं हो सकते । क्योंकि जहाँ मिथ्याग्राशय है वहाँ यह वात वसी हुई है कि ये पर पदार्थ मेरे हैं ग्रौर मैं इनका करने वाला हूँ । मैं इनका पालक हूँ, ऐसे मिथ्या ग्राशय में विनय कहाँ ग्रा सकती है ? नम्रता कैसे वन सकती ? वहां तो ग्रहंकार का परिणाम ही वनता है ग्रौर जिस ज्ञानी पुरुष के ग्रंतरंग में ऐसा मिथ्या ग्राशय दूर हो गया है ग्रौर अपने ग्रापका जो चैतन्यस्वभाव है उस ग्रोर दृष्टि किये हुए है ऐसे ज्ञानी पुरुष के पर पदार्थों में क्या ग्रभिमान होगा ? जहाँ पर पदार्थों को ग्रपना माना ही नहीं जा रहा है, पर पदार्थों से ग्रत्यन्त भिन्न ग्रपने एकत्वस्वरूप का

परिचय हुआ है वहां ही कोमलता, नम्रता और विनय हो सकती है। अभिमान तो वहां होता है जहाँ पर पदार्थों में कर्तृत्वबुद्धि हो, मैं इसका करने वाला हूँ, मैं इन सबका पालने वाला हूँ, मैं न होऊं तो यह काम नहीं हो सकता। इस प्रकार का जो भीतर में मिथ्या आशय है यही अहंकार है। जब तक इस अहंकार को न हटाया जायेगा तब तक इन पर पदार्थों को अर्थात् जाति, रूप, कुल, बल आदिक को निरख कर इनमें अहंकार भाव बना रहेगा और आत्मा कोमलता से दूर रहेगा।

दूसरे की महिमा में अपनी महिमा मानना यह ही अनन्ताभिमान है। यदि एक बार भी यह जीव बाहरी परपदार्थों की इस ममता को छोड़कर उन्हें असार और अहितकारी जान कर उनकी ओर दृष्टि न देकर अपने आपके अन्तरंग विभूति की ओर दृष्टि दे तो इसको अपने आपके अन्दर विराजमान अनन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न उस परमात्मा के दर्शन होंगे। मैं तो अनन्त विभूति का स्वामी हूँ, ऐसा जब अपने आपको पता पड़ेगा तो फिर यहाँ की इन छुटपुट विभूतियों में (चीजों में) अहंकार न किया जायगा। अरे ये दिखने वाले समस्त बाह्य पदार्थ अचेतन हैं, क्षण भंगुर हैं, मिट जाने वाले हैं। इनमें क्या अभिमान करना ? अभिमान के दो प्रकार हैं (१) स्वाभिमान और (२) पराभिमान। स्वाभिमान तो वह है जहाँ अपने कर्तव्य बल की बात बसी हो। जैसे मैं हूँ तो ऐसे उच्चकुल वाला और क्या नीचता के काम करूं ? ऐसा नहीं हो सकता। तो यह हुई एक स्वाभिमान की बात। और पराभिमान वह है जो इन बाह्य पदार्थों में वड़प्पन मानकर किया जाता है। मैं ऐसे उच्चकुल वाला हूँ, ऐसी विभूति वाला हूँ, मेरी ऐसी पोजीशन है आदि। अपना जो वास्तविक स्वभाव है उसकी प्रतीति होने पर क्या अहंकार किया जायगा ? वह तो स्वरूप ही है। तो

इन वाहरी पदार्थों में अहंकार, ममकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्व ये जो चार प्रकार की बुद्धियाँ बनती हैं उन्हें छोड़ें और अपने आपके चैतन्यस्वभावरूप निर्मल रूप का ध्यान करें। उसी को प्रतीति बनायें तव यह मार्दव धर्म प्रकट होगा।

आगम में वताया है कि यह मान कपाय ८ प्रकार के आशयों को लेकर हुआ करती है। समंतभद्राचार्य स्वामी ने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में कहा है कि—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, वलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥

अर्थात् ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, शक्ति, ऋद्धि, तप और शरीर इनके आश्रय से लोग मद करते हैं और इस प्रकार मद के ८ भेद हैं। अव कहते हैं कि इन ८ प्रकार के मदों को ज्ञानी पुरुष छोड़ता है।

(१) ज्ञान का मद :—जरासा क्षायोपशमिक ज्ञान पा लिया, कुछ दस पाँच ग्रन्थों का ज्ञान कर लिया, थोड़ा उपदेश देना भी सीख लिया तो लोग ऐसा अहंकार करते हैं कि मैं वहुत पढ़ा लिखा हूं, ज्ञानी हूँ। अरे प्रथम वात तो यह है कि यह ज्ञान कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट हुआ है, दूसरी वात यह है कि यह ज्ञान इन्द्रियाधीन है। जव तक इन्द्रियाँ हैं तव तक ही वाहरी ज्ञान पाया जाता है। तो ऐसे तुच्छ ज्ञान में क्या मद करना? अरे लोक में और भी तो वहुत से विद्वान पड़े हुए हैं, फिर इस थोड़े से ज्ञान को पाकर उसमें मद करना, यह एक कितनी भूल भरी वात है। ज्ञानी जानता है कि इन सभी वस्तुओं का अभिमान करना व्यर्थ है क्योंकि ये सभी वस्तुऐं अस्थिर हैं क्षणभंगुर है इनके पंख लगे हुए

हैं और ये कभी भी उड़कर दूर भाग सकती हैं। अतः ऐसी अस्थायी व क्षणिक वस्तुओं का क्या अभिमान करना ? ऐसे अज्ञान परिणाम को छोड़ना ही योग्य है।

आचार्यदेव ने समझाया है कि हे आत्मा तूं इस थोड़े से ज्ञान का मद छोड़। अरे तेरे में जो पूर्ण ज्ञानसागर है (केवलज्ञान) उसको तूं देख, उसकी महिमा को निरख। तेरे उस केवलज्ञान में तो ऐसी महिमा है कि तीन काल के समस्त पदार्थों को उसके द्वारा एक झलक में स्पष्ट देख सकता है। तो ऐसे केवलज्ञान स्वरूप होकर तूं ऐसे तुच्छ ज्ञान में अहंकार मत कर। इस प्रकार का यदि अपने आत्मस्वरूप का परिचय हो तो इस जीव को फिर इस अपने थोड़े से ज्ञान में मद नहीं हो सकता है। अरे सभी जीव ज्ञान से लबालब भरे हुए हैं। यह तो कर्मों के क्षयोपशम की बात है कि जो किसी को कम ज्ञान मिला किसी को अधिक। स्वरूपतः तो सब अनन्तज्ञान के धनी हैं। तब फिर कुछ थोड़ा सा विशेष ज्ञान पाकर अपने को ज्ञानी मानना और दूसरे को तुच्छ गिनना यह उचित नहीं है। एक बात और भी है कि सम्पूर्ण कलाओं में कोई पूर्ण नहीं हो सकता। भला ऐसा कौन होगा जो सम्पूर्ण कलाओं का पारगामी हो ? किसी में किसी बात का अधिक ज्ञान है, किसी को किसी बात का, फिर इस थोड़े से ज्ञान को (ज्ञान की कला को) पाकर अपने आप में मद (अहंकार) करना यह बड़ी भारी भूल है।

एक कोई नवयुवक बी. ए. पास समुद्र की सैर करने गया। नाविक से कहा कि क्या तुम मुझे नाव में बिठाकर समुद्र की सैर करा दोगे ?—हां हां करा लेंगे। तीन रुपया लेगें। अच्छी बात। सो नाव में बैठकर चला। अब पढ़े लिखे लोग तो बहुत बातें करते

ही हैं, सो उसे बातें तो करनी ही थीं, अब वहाँ किससे बातें करें ? नाविक ही था। सो नाविक से बहुत बातें कीं। उसी बातचीत के सिलसिले में उसने पूछा कि ऐ नाविक तुम पढ़े लिखे हो कुछ कि नहीं ? नाविक बोला—नहीं बाबूजी, हम तो कुछ भी पढ़े लिखे नहीं हैं। तो क्या ए, बी, सी, डी, भी नहीं पढ़ा ? नहीं बाबूजी। तो क्या अ आ इ ई भी नहीं पढ़ा ?—नहीं बाबूजी। तब बाबूजी बोले—गधे, नालायक, बेवकूफ ऐसे ही लोगों ने तो भारत को बरबाद कर दिया है। वह बेचारा पढ़ा लिखा तो था ही नहीं, कुछ न बोला। सब सुन लिया। पर जब नाव कुछ आगे बढ़ी और समुद्र में नाव भँवर में फंसने लगी डगमगाने लगी तो वह युवक घबड़ाया, उस समय नाविक बोला—कहो बाबूजी तुमने कुछ तैरना सीखा है कि नहीं ?—नहीं सीखा।—तो क्या बिल्कुल भी नहीं सीखा ?—हां बिल्कुल ही नहीं सीखा। तो नाविक ने भी अब उस नवयुवक को उतनी ही गालियाँ सुनाईं-गधे, नालायक, बेवकूफ—ऐसे ही लोगों ने तो भारत को बरबाद कर दिया है। तो अब बताओ यहाँ सम्पूर्ण कलाओं का ज्ञाता कौन है ? अरे कोई किसी कला को जानता है कोई किसी कला को। तो यहाँ किस बात का अहंकार करना ? इस मान कषाय का मर्दन करने से ही हम आपका भला है।

(२) **पूजा मद** :—इस पूजा मद में अपने सामने दूसरों को तुच्छ, नगण्य और हीन मानने रूप भाव होते हैं। अगर कोई लोक में प्रतिष्ठा आदर सम्मान पाने लगे तो लोग उसी का मद करते हैं। तो पहिली बात तो यह देखो कि ये प्रतिष्ठा करने वाले लोग कौन हैं और जिसकी प्रतिष्ठा की जा रही है वह कौन है ? अरे ये प्रतिष्ठा करने वाले लोग तो मोही अज्ञानी प्राणी हैं, मलिन हैं, कर्म के प्रेरे हैं, और फिर ये प्रतिष्ठा किसकी करते हैं ?—इस

मायामयी पुद्गल की, (शरीर की)। यहाँ तो माया की माया से पहिचान हो रही है। कोई किसी के वास्तविक स्वरूप को लखकर उसकी प्रतिष्ठा नहीं करता। तो ज्ञानी पुरुष ऐसा जानकर इस लौकिक प्रतिष्ठा की बुद्धि को छोड़ देता है। ज्ञानी पुरुष तो अपने ज्ञानस्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहकर अपने को पूर्ण मानता है, प्रतिष्ठित मानता है, वह इन बाहरी चीजों से अपने में मद नहीं करता। इस अहंकार के वशीभूत होकर ऐसा व्यवहार करने लगता है यह प्राणी कि जिससे दूसरों का तिरस्कार होता है, इस की प्रतिक्रिया दूसरों के मन में भी होती और तब आदर पाने के बजाय वह घृणा का पात्र बन जाता है। और एक दिन पूजा के शिखर पर विराजमान उस घमंडी व्यक्ति का लोगों की दृष्टि में पतन हो जाता है। इस प्रकार घमंडी का सिर सदा नीचा ही होता है। दूसरों से पूजा पाकर इतराना क्या? यह तो पूर्व जन्म के पुण्य का फल है। यदि पुण्य को सुरक्षित रखना है और बढ़ाना है तो अपने अपको अत्यन्त विनम्र बनाना चाहिए। इन बाहरी बातों पर मद न करना चाहिए। अभिमान करने से तो पुण्य क्षीण हो जाता है, और इसकी सारी प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती है।

(३) कुल का मद :—मैं उच्च कुल का हूं, लोगों को तो मेरी उसी तरह से प्रतिष्ठा करना चाहिए जैसे कि मेरे पिता की होती थी। देखिये—पिता के कुल से अपने कुल का मद किया जा रहा है। अरे पिता का जैसा आचरण तो बनाना चाहते नहीं और चाहते हैं वैसी ही प्रतिष्ठा, तो यह बात बन कैसे सकेगी? अरे इस कुल का क्या मद करना? जरा इस बात पर भी तो कुछ विचार करो, जब सूकर गधा आदि के भव में थे तब कौन सा वहाँ कुल था? इस कुल का क्या मद करना? तेरा वास्तविक

कुल तो चैतन्य कुल है। इस चैतन्य कुल को ही अपना वास्तविक कुल समझ। यहाँ के कुल का मद छोड़ दे ।

(४) जाति का मद :–माता के पक्ष को जाति कहते हैं। लोगों को अपनी जाति का भी मद होता है। हमारे मामा बड़े प्रतिष्ठा वाले हैं। उनका बड़ा चला है। इसी बात को लेकर यह जाति का मद होता है। इस जाति में क्या मद करना ? तेरी जाति तो है चैतन्य जाति। उस चैतन्य जाति की महिमा को तूं जान। वही है तेरी असली जाति। इस लौकिक जाति में गर्व मत कर। इस चैतन्य जाति की अगर सही पहिचान होगी तो फिर लौकिक कुल जाति आदि के परिणाम न बनेंगे। और अपने आप के अन्दर इस मार्दव धर्म की प्रादुर्भूति होगी।

(५) बल का मद :–मैं ऐसी पोजीशन वाला हूँ। मेरे पास इतना वैभव है, ऐसा खजाना है, मुझे ऐसा बल प्रगट हुआ है, ऐसे बाहरी परपदार्थों के बल को लेकर मद करना सो बल का मद है। यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि रावण के पास बहुत बल था। उसके पास सब वैभव था लेकिन इसी बल के मद के कारण ही रावण की बरबादी हुई। श्रीराम अन्त तक उससे यही कहते रहे कि ऐ रावण मुझे तेरा वैभव न चाहिए। तूं मेरी सीता को वापिस दे दे। बस मैं यही चाहता हूं। सो यद्यपि रावण के मन में भी आया था कि मुझे सीता वापिस दे देना चाहिए श्रीराम को, क्योंकि सीता के सतीत्व की वह परीक्षा कर चुका था। परन्तु उस समय रावण के मन में यह मान कषाय घर कर गई और विचारा कि यदि मैं सीता को यों ही दे दूँ तो दुनियाँ मुझे कायर कहेगी। फिर मैं कैसे बली कहला सकूँगा ? मुझे तो युद्ध करना ही योग्य है। तो

रावण के मन में इस बल के मद के कारण ही तो कुबुद्धि पैदा हुई। और इसी के कारण वह दुर्गति का पात्र बना।

यहाँ इस बल का भी मद करना ठीक नहीं है। थोड़ा सा दल बल वैभव आदि जो यहाँ पाया है उसका क्या मद करना ? अरे तेरा मद करने का अवसर तो तब था जबकि तू देवगति में था। वहाँ पर मन-चाहे भोग साधन प्राप्त थे, सागरों पर्यन्त की लम्बी आयु थी, सैकड़ों मंजिल के भवन तेरे पास थे, न जाने कितनीं ही देवाँगनायें तेरे पास थीं, तो तेरे बल का मद करने का अवसर तो तब था। अब क्यों व्यर्थ में इस थोड़े से धन पर छोटे से मकान पर अथवा एक स्त्री पर मद करना। अरे इस बल का मद करना तो तेरी महाभूल है। तूं तो अपने आत्मीयबल को देख। तेरे में तो अनन्त बल भरा पड़ा है, उसको पहिचान और उसी को अपना सर्वस्व समझ।

(६) तप का मद :—अनशन, उपवास तथा कायक्लेश आदि तप करने में बढ़ गये तो लोग अपने अन्दर उसी को लेकर एक अहंकार का भाव उत्पन्न कर लेते हैं, यही है तप का मद। इन बाह्य तपों को करके यदि कोई अहंकार करे तो वह तप भी नहीं कहा गया। वह तप करना तो एक निरर्थक चीज है। मानी जीव की धार्मिक क्रियायें भी सार्थक नहीं हैं। अरे धर्म का अभ्युदय तो वहाँ ही हो सकता है जहाँ विनय हो, नम्रता हो, कोमलता हो। तपश्चरण करते हुए इस प्रकार का भाव रहे कि मेरा तो जो निज चैतन्य स्वरूप है उसको ही महिमा को पहिचानूं, उसी में रमण करूं, उसी में निवास करूं यही मेरा वास्तविक तप है। और इस ही वास्तविक तप के द्वारा आत्मा की शुद्धि होती है।

(७) ऋद्धि मद :—तपश्चरण के द्वारा यदि किसी प्रकार की ऋद्धि सिद्ध हो गयी तो लोगों को उसी का मद हो जाता है, यही है ऋद्धि का मद। अरे बाह्य ऋद्धियों का क्या मद करना ? और प्रथम बात तो यह है कि जो साधना में लगा है उसे अपनी ऋद्धियों का कुछ पता ही नहीं पड़ता। देखो ना विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त थी पर उन्हें उसका पता न था। जब पास के किसी क्षुल्लक ने उन्हें बताया तब उनको पता पड़ा। तो जो ज्ञानी पुरुष और मुनिजन अपने आपकी आत्मसाधना करते हैं उनको ऋद्धियों की प्राप्ति हो जाती है पर उन ऋद्धियों में रंच भी मद नहीं करते। वे जानते हैं कि यह मान कषाय तो एक विकार है। इस मुझ आत्मा का मान करने का स्वभाव नहीं है किसी भी प्रकार से इस मान कषाय को प्राप्त न होऊं, यह मान कषाय तो इस मुझ आत्मा की बरबादी ही करती है।

(८) शरीर का मद :—लोग इस शरीर का भी मद करते हैं। इसको देख देखकर रीझना, इतराना। अरे यह जो मनुष्य शरीर है अथवा जो असमानजातीय द्रव्यपर्याय रूप है वह वास्तव में है क्या ? हाड़, मांस, चाम, खून, पीप आदिक महा घिनावनी गंदी चीजों का घर है। इस शरीरको यह मैं हूँ, ऐसा समझना, यह बात तो धर्म मार्ग में बढ़ने के लिए बाधक है। अरे यह शरीर तो पौद्गलिक है। पौद्गलिक प्राणों से बना हुआ है। आत्मा का यह स्वरूप नहीं है। आत्मा तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक चतुष्टय से सम्पन्न है। अथवा चैतन्य स्वभाव को रखने वाला है। इस अपावन शरीर को निरखकर अहंकार का भाव लाना यह तो एक महान अज्ञानता है। इस शरीर के रूप का क्या मद करना ? यह तो विघट जाने वाली चीज है। यह

तो कर्माधीन प्राप्त होने वाली चीज है। यह तो बिनाशीक चीज है। इसका मद करना योग्य नहीं।

यह शरीर एक न्यारी चीज है, मैं आत्मा न्यारी चीज हूँ, इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर फिर इस शरीर के मान का परिणाम न होगा। शरीर को ही निरखकर अज्ञानी जीव कहते हैं कि यह मैं बड़ा चतुर हूँ। यह चीज तो मुझे ही मिलनी चाहिए, ऐसे इस मान कषायरूप परिणाम में ही हठ हो जाती है, ऐसी हठ ही इस आत्मा के स्वभाव का घात करने वाली है। तो यहाँ की इन बाहरी बातों से चतुराई दिखाने से अपने को चतुर न मानें, यह कोई चतुराई नहीं है। इस आत्मा की वास्तविक चतुराई है आत्मा का अपने स्वरूप में रहने से।

देखिये— जो पुरुष विनम्र होता है वही अपने आपकी रक्षाकर पाता है। लोक में देखिये— जैसे आंधी–पानी के–झकझोरों में पड़कर जो घास नम जाती है वह उस आंधी पानी से अपने को बचा लेती है। उसकी रक्षा हो जाती है, पर जो वृक्ष तने हुये खड़े रहते हैं उनकी डालियाँ टूट कर गिर जाती हैं। अथवा वृक्ष ही टूट कर गिर जाता है। ठीक इसी प्रकार इस संसार में मानी पुरूषतो यहां की आने वाली आपदाओं में अपना विनाश कर लेता है और सरल हृदय वाला मनुष्य, कोमल हृदय वाला मनुष्य, अथवा नमकर चलने वाला मनुष्य उन विपदाओं से अपनी रक्षा कर लेता है।

मान कषाय करने वाले व्यक्ति को देखो तो वह ऐंठकर (तनकर) चलता है। ऐसा तना रहता है कि जैसे बांस। यह भी बताया गया है कि मान कषाय करने वाले को मरकर ऊंट की

पर्याय मिलती है, क्योंकि यहां उसकी चाल ढाल ऊंट की जैसी ही नजर आती है। वह इस लोक में अपने को बड़ा चतुर, होशियार और बुद्धिमान मानता है। अन्य सभी चीजों को तुच्छ समझता है। जैसे पहाड़ की चोटी पर खड़ा हुआ मनुष्य नीचे के मनुष्यों को तुच्छ देखता है तो क्या नीचे के मनुष्य ऊपर वाले मनुष्य को तुच्छ नहीं देखते ? अरे अपने आत्म स्वरूप का यथार्थ परिचय करके झुकना, नमना सीखो। किसके प्रति झुकना ? कहां झुकना ? अपने इस निरुपाधि शुद्ध चैतन्य स्वभाव के प्रति। यही है वास्तव में उत्तम मार्दव धर्म।

यहां मान करने वाले को भी कोई न कोई मजा चखाने वाला मिल ही जाता है। जैसे एक कथानक है कि कोई एक स्त्री बड़ी हठीली थी। वह अपने पति को छकाने की बात सोचा करती थी। वह पति उस स्त्री से बड़ा प्रेम भी करता था। सो एक दिन पति को छकाने के लिए वह स्त्री अपनी खाट पर पेट दर्द का बहाना करके पड़गई। पति ने पूंछा कहो देवी क्या बात है ?—पेट दर्द है।—कैसे ठीक होगा ? अरे अभी कुछ निद्रा सी आयी और स्वप्न में एक देव बोला कि तुमसे जो प्रेम करता हो उसकी मां यदि अपना सिर घुटाकर मुंह काला करके सवेरा होते ही दर्शन दे देगी तब तो बच जायेगी नहीं तो मर जायेगी। वह पुरुष सब समझ गया, सो क्या किया कि झट एक पत्र अपनी ससुराल भेज दिया, पत्र में लिखा कि मां जी तुम्हारी लड़की बहुत अधिक बीमार है, उसके बचने की कोई आशा नहीं है। हां एक देवने स्वप्न में कहा है कि अगर इसकी मां अपना सिर घुटाकर मुंह काला करके सवेरा होते ही दर्शन देगी तब तो यह बचेगी नहीं तो मर जायेगी। जब सास ने पत्र पाया तो चूंकि

अपनी बेटी से प्यार था ही, सो झट अपना सिर घुटाकर मुंह काला करके सबेरा होते ही अपनी लड़की के घर पहुंच गई। उस समय वह स्त्री चक्की पीस रही थी। अब उस स्त्री ने देखा तो उसे पहिचान न सकी समझा कि मेरी ही सास है, सो अपने पति से बोली—"देखे बीरबानी के चाले, सिर मुंडे और मुंह काले" तो वह पुरुष बोला "देखी मर्दों की फेरी, अम्मा तेरी या मेरी" जब उस स्त्री ने देखा कि अरे यह तो मेरी ही मां है तो लज्जित हो गई, तब से फिर छकाने की बात (हठ की बात) छोड़ दी। हठ करने का मजा वह स्त्री पा गयी थी। तो इस प्रकार हठ करने से किसी जीव को शान्ति नहीं प्राप्त होती। हठ करने वाला तो स्वयं भी परेशान होता है और दूसरों को भी परेशानी में डाल देता है इसलिए इस हठ के दुराग्रह को छोड़ और अपने अन्दर विनय गुण को स्थान दें। विनय गुण ही मानवता का भूषण है, आत्मा का स्वभाव है मार्दव। विनय के आगम में ५ प्रकार बताये गये हैं (१) ज्ञान विनय (२) दर्शन विनय (३) चारित्र विनय (४) तप विनय (५) उपचार विनय। ज्ञान विनय वह है कि जो ज्ञानी पुरुष हैं तथा जो सम्यज्ञान है उनकी विनय करना, उनकी साधना में रहना, ज्ञान विनय से ही आत्मा को सद्‌मार्ग मिल सकता है। दर्शन विनय वह है कि जो सम्यग्दृष्टिजन हैं तथा जो सम्यग्दर्शन है उसका विनय करना सो दर्शन विनय है। ये दर्शन विनय धर्म की जड़ है, इसलिये दर्शन विनय को ही उपयोग में रखना चाहिए। जो चारित्र में बढ़े हुए हैं, चारित्र का निर्दोष पालनकर रहे हैं ऐसे चारित्र धारियों के प्रति विनय करना तथा चारित्र के प्रति विनय भाव रखना, आदर बहुमान का भाव बनाना सो चारित्र विनय है। तप विनय वह है कि १२ प्रकार के जो तप हैं उनके प्रति

विनय रखना तथा तपश्चरण के मार्ग में आरूढ़ तपस्वियों के प्रति विनय करना और उपचार विनय है पंचपरमेष्टि का वन्दन, पूजन आदि करना तथा साधर्मी जनों के प्रति यथायोग्य आदर सत्कार का व्यवहार करना यह है उपचार विनय।

किसी से कुछ बोलना है तो अच्छे शब्दों में विनयपूर्वक बोलना चाहिए। अरे बोलने में भी कुछ लगता है क्या? जब बोलना ही है तो कठोर क्यों बोला जाय? विनयपूर्वक मधुर शब्दों में बोलने का अभ्यासी बनना चाहिए। जैसे दो शिष्यों से कहा जाये कि अच्छा संस्कृत में इसका अनुवाद करो—"समक्ष एक ठूंठ खड़ा है" तो एक शिष्य ने कहा—"शुष्कः वृक्षः तिष्ठत्यग्रे" और दूसरे शिष्य ने कहा—"नीरस तरूरिह विलसति पुरूत:" तो देखिये-पहिले शिष्य की अपेक्षा दूसरे शिष्य के शब्दों में मृदुता और मधुरता है। बोलना ही है तो ऐसे मृदुल, सरस, विनययुक्त वचन क्यों न बोले जायें? अरे कोई अपने से बड़ा है तो उससे आदर भरे शब्द बोलना चाहिए। अगर कोई अपने बराबर का है तो उससे भी सम्मान भरे शब्द बोलना चाहिए और अपने से छोटा हो तो उससे स्नेह भरे प्रेमयुक्त शब्द बोलना चाहिए। जब तक यह लौकिक विनय नहीं होगी तब तक परमार्थ विनय भी नहीं आ सकती। आत्मा की परमार्थ विनय यही है कि आतमा में ये जो रागद्वेषमोहादिक भावों की कलुषतायें उत्पन्न हो रही हैं उन्हें उत्पन्न न होने दें, उन्हें रोकें। कोई चाहे कि लोक व्यवहार में तो हम इतराते रहें और हमारी परमार्थ विनय बन जाय तो यह बात कभी नहीं हो सकती। परमार्थ साधना करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह विनयशील बने। हर प्रसंग में वह विनययुक्त बर्ते, पर इन सब बातों के लिए यह आवश्यक है कि मूल में अपने आपके चैतन्य स्वभाव की

महिमा का ज्ञान करलें। इन बाहरी पदार्थों में ही अटके रहने से, उनसे ही अपना बड़प्पन मानने से इस आत्मा का कुछ भी हित न हो सकेगा। ये बाहरी पदार्थ तो विनाशीक हैं। इस आत्मा का भला करने वाले नहीं। तो इन बाहरी पदार्थों की ओर से अपने उपयोग को हटा कर अपने आत्मस्वभाव की ओर युक्त करना चाहिए।

जिस व्यक्ति के अन्दर यह विनय गुण होता है उसे ही धर्म का सही मर्म समझ में आता है। जैसे जब किसान को जमीन में बीज बोना होता है तो वह क्या करता है? भूमि को मुलायम बनाता है, इसी प्रकार अपने अन्दर यदि धर्म के अंकुर उत्पन्न करने हैं तो सबसे पहिले अपनी आत्म भूमि में कोमलता लानी होगी, कठोर परिणाम वाले हृदय में धर्म का प्रवेश कदापि नहीं हो सकता। इस परमार्थ साधना की बात जाने दो यहाँ की लौकिक विद्या भी बिना विनय गुण के लाये किसी को प्राप्त नहीं हो सकती। तभी तो यह देखा जाता है कि जो विद्यार्थी विनयवान होते हैं वे जल्दी ही विद्याओं में निपुण हो जाते हैं और जो कठोर हृदय वाले विद्यार्थी होते हैं, ऐंठकर चलते हैं, अपने को बड़ा बुद्धिमान समझते हैं, दूसरों को तुच्छ समझते हैं ऐसे विद्यार्थी कुछ नहीं सीख पाते हैं।

यहां हम आप यदि धर्म की साधना करना चाहते हैं, अपने जन्म मरण के संकटो को मेटना चाहते हैं, यहां के इन घोर संकटों से बचना चाहते हैं तो इस मान कषाय का मर्दन करना होगा। यहाँ तो अपनी पूजा प्रतिष्ठा के लिए सिर मुड़ा लिया, धोती दुपट्टा पहिन लिया, त्यागी बन गये, तो इस त्यागीपने से काम न चलेगा। यदि आत्म कल्याण के मार्ग में

आगे बढ़ना है तो सबसे पहिले इस मान कषाय का मर्दन करना होगा। यहाँ केवल अपने सिर का मुण्डन करवा लेने से काम नहीं चलेगा, बल्कि मान का मुण्डन करना होगा। इस अहंकार से आत्मा का कभी भी किसी प्रकार कल्याण नहीं है। तत्वार्थ सूत्र में भी कहा है "परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च-नीचैर्गोत्रस्य" अर्थात् दूसरे की निन्दा अपनी प्रशंसा करने की जिस की वृत्ति है समझना चाहिए कि उसके मान कषाय है। बिना मान कषाय के यें बातें नहीं होती। इससे तो नीच गोत्र का बन्ध होता है। मार्दव गुण के प्रकट होने पर यह जीव सबको स्वात्मवत् समझता है। फिर वह समझता है कि संसार में जितना नींच ऊंच भाव है वह मिथ्या भाव है और दुःख का देने वाला है। निस्कारण अभिमान करना आत्मघातक है। ऐसे मान कषाय को धिक्कार है। अरे यहां तो जन्म के साथ मरण, लक्ष्मी के साथ दरिद्रता और यौवन के साथ बुढ़ापा जुड़ा हुआ है, तो फिर अभिमान किसका करें? बड़े पुरुष सदैव विनयवान होते हैं। वे अपने मुखसे स्वप्रशंसा नहीं करते। कहा भी है—

बड़े बड़ाई ना करें, बड़े न बोलें बोल।
हीरा मुख से ना कहे, लाख हमारो मोल॥

जैसे हीरे की कीमत स्वमेव हो जाती है वैसे ही मनुष्य का ऊंच नीचपन भी उसके आचरण व्यवहार से प्रकट हो जाता है।

तो जहां मिथ्या अभिप्राय है, उल्टी वृत्ति है वहां मार्दव धर्म का अभ्युदय नहीं होता। यह मान कषाय तो है आत्मा का विभाव परिणाम। और मार्दव है आत्मा का स्वाभाविक गुण।

हमें यदि आत्म स्वभाव की उपासना करना है तो हमें चाहिए कि इस मार्दव धर्म को हम अपने जीवन में उतारें। पहिले अपने आपको देखें। देखो अन्य लोगों ने भी कहा है कि—

बुरा जो देखन में चला, बुरा न मिलया कोय।
जो दिल खोजा आपना, तो मुझसे बुरा न कोय॥

तो सबसे पहिले अपने आपको देखें कि हमारे अन्दर कितनी कमियां हैं और कितनी कमियां दूर हो गई हैं। कितने दिनों से हम धर्म साधना करते हैं, हमारी कषायें कुछ कम पड़ी हैं या नहीं। क्रोध मान, माया, लोभ, मोह, ममता इनमें कुछ अन्तर आया है कि नहीं। यह बात तो रोज रोज देखने की है। हमारा कुछ विकास हो रहा है कि नहीं हो रहा है इस बात को हमें प्रतिदिन देखना होगा। अगर हमारी प्रगति नहीं हो रही है तो समझें कि हमारी भलाई नहीं है।

अरे बहुत से साधुजन तो हमारे अन्दर मान कषाय उत्पन्न होने के अवसर न आने पावें इस बात के लिए अटपटे जैसे कार्य करते हुए पाये जाते हैं। जैसे एक दृष्टान्त है कि किसी नगर के पास कोई गुरु शिष्य आकर ठहर गये। उनका माहात्म्य चारों ओर फैल गया। दर्शकों की भीड़ लगने लगी। एक दिन वहां का राजा भी बहुत बड़े समूह के साथ उसके पास आने वाला था। तो गुरु ने समझा कि यह तो एक बड़ी आफत की चीज बन गई। इसमें तो हमें धर्म साधना में, अपने ज्ञान ध्यान तप में बाधा हो जायगी अथवा हमारे अन्दर मान कषाय भी उत्पन्न हो जायगी इसलिये उसने एक उपाय रचा। क्या कि शिष्य से कहा—देखो आज यहां राजा आयगा। जैसे ही वह आये उसके सामने तुम

रोटियों की चर्चा छेड़ देना, हम तुम दोनों रोटियों के विषय में झगड़ने लगेंगे तो राजा वापिस लौट जायगा और हम तुमको यहां धर्म साधना करने का अच्छा अवसर बना रहेगा।—ठीक है। आखिर वैसा ही किया। अब राजा बहुत बड़े जन समूह के साथ वहां आया तो गुरु शिष्य दोनों ही रोटियों के विषय में झगड़ने लगे। आज तो हमने दो ही रोटियां खायीं, तुमने चार खायीं, हमको क्यों नहीं चार रोटियां दी ? आदि। जब राजा ने देखा कि अरे ये तो रोटियों के लिये झगड़ते हैं, काहे के साधू, तो झट वापिस लौट गया। बस गुरु शिष्य दोनों ही शान्ति पूर्वक धर्म साधना करते रहे। तो इस दृष्टान्त द्वारा यह सिद्ध किया कि इस मान कषाय को न पनपने देने के लिये और धर्म साधना के कार्य में आगे बढ़ने के लिए ज्ञानी पुरुष अपना कोई न कोई उपाय पहिले से ही बना लेते हैं। जिन्हें भी आत्म साधना के मार्ग में आगे बढ़ना है, उन्हें चाहिए कि पूर्णरूपेण इस मान कषाय को नष्ट करें और यह जानना चाहिए कि यह मैं आत्मा केवल अपने ज्ञानस्वरूपका ही करता हूं, उसी ज्ञान-भाव को भोक्ता हूँ, ज्ञान से ही रचा हुआ हूँ, ज्ञानातिरिक्त अन्य कुछ भी परपदार्थ और पर भावस्वरूप मैं नहीं हूँ। ज्ञान सर्वस्व ही मेरा वास्तविक वैभव है। यही है वास्तव में मार्दव धर्म। इस ही ज्ञान स्वभाव की उपासना करके हम आप परम सुखी बनें। विचार करते जाइये कि—

दुनियां में देखो सैकड़ों आये चले गये,
सब अपनी करामात दिखाते चले गये।

साथ में पूजा में भी पढ़ते हैं:—

मान महा विषरूप करहिं नीच गति जगत में।
कोमल सुधा अनूप, सुख पावे प्राणी सदा॥

उत्तम मार्दव गुण मनमाना, मान करन का कौन ठिकाना।
वस्यो निगोद माहिं तैं आया, दमरी रूकन भाग बिकाया ॥
रूकन बिकाया भागवशतें, देव एकेन्द्रिय भया।
उत्तम मुआ चाण्डाल हुआ, भूप कीड़ों में गया ॥
जीतव्य जोबन धन गुमान, कहा करै जल बुदवुदा।
करि विनय बहुगुण बड़े जनकी, ज्ञानका पावै उदा ॥

देखिये—जरासी मान कषाय का अंश भी बाहूबलि स्वामी को कितना बाधक रहा। उन्हें एक वर्ष तक एकासन से खड़े रहकर इस अल्प मान कषाय के कारण ही तपश्चरण करना पड़ा। जरा ही तो शल्य थीं कि यह भूमि जिस जगह मैं खड़ा हुआ हूँ यह तो भरत की है, इसी अन्तः शल्य के कारण उन्हें एक वर्ष तक कठिन तपश्चरण करना पड़ा था। और जैसे ही उनकी शल्य खतम हुई तब केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। तो यह मान कषाय कितनी दुःख दायिनी है। बड़े बड़े पुरुष भी इस मान कषाय के चंगुल में फंसकर हैरान हुए। भरत चक्रवर्ती जब दिग्विजय करने के बाद वृषभाचल पर्वत पर अपना नाम खोदने के लिए गये तो उन्हें वहां अपना नाम खोदने की जगह ही न मिली। आखिर किसी एक नाम को मिटाकर उस जगह अपना नाम अंकित किया। तो देखिये इस मान कषाय की विचित्रता। इस मान कषाय के वशीभूत होकर यह प्राणी न जाने क्या क्या चेष्टायें कर डालता है।

अरे आतमन् ! यह संसार असार है। यहां पर मान कषाय करना यह तो पर्यायबुद्धि की बात है। मूढताभरी बात है। तात्विक व्यवस्था की प्रतीति करके जो उत्तम मार्दव गुण आत्मा का स्वभाव है उसकी आराधना करो तब यह मार्दव धर्म प्रकट

होगा । और भी देखिये—लोक में जो भी प्रशंसा की जाती है वह गुणों की जाती है । शरीर, धन वैभव आदिक की नहीं । इस धन वैभव का मान लोग व्यर्थ ही करते हैं । लोग किसी को पूछते हैं तो उसके गुणों के कारण । जैसे एक दृष्टान्त में वताया है कि एक वार राजा भोज रात्रि के समय में अपने महल में पलंग पर लेटे हुए अपने वैभव का ख्याल करते हुए छन्द की रचना कर रहे थे । केवल तीन ही चरण वन पाये थे । वे तीन चरण इस प्रकार थे :—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोनुकूलाः ।
सद्बान्धवः प्रणतिगर्भगिरश्चभृत्यः ॥
गर्जन्ति दन्तिनिवहा स्तरला स्तुरंगाः ।

अर्थात् मन को हरने वाली सुन्दर आज्ञाकारिणी हमारी रानियाँ हैं, वन्धुजन अनुकूल हैं, नौकर भी सेवा भावी हैं और हाथी घोड़े भी गरजते हैं । चौथा चरण नहीं वन पा रहा था । अव एक चोर जो कि राजा भोज के यहां महल में चोरी करने के लिए गया हुआ था वह विद्वान था । चोरी का अवसर न पा कर वह राजा भोज के पलंग के नीचे छिपा हुआ था । जव उसने देखा कि राजा भोज से इस छन्द का चौथा चरण नहीं वन रहा है तो स्वयं ही चौथा चरण वोल उठा कि—'सम्मीलने नयनयोर्नहिकिंच-दस्ति" । अर्थात् राजन आंख मिचने पर कुछ भी तुम्हारा नहीं है । छन्द पूर्ण हो जाने पर राजा ने उस चोर से सारा हाल पूंछा तो चोर ने अपना सारा हाल कह सुनाया । लेकिन राजा भोज उस चोर की विद्वता पर अत्यन्त हर्षित हुए और उसे पुरस्कार देकर सहर्ष विदा किया वह स्वयं राजकाज से विरक्त होकर आत्म कल्याण में जुट गये । तो देखो यहां उस चोर के गुणों का ही

आदर किया ना। न कि उस चोर का। तो यहां शरीर, धन, पोजीशन, परिजन आदिक का क्या अहंकार करना? यह तो पर्याय बुद्धि की बात है। ज्ञानातिरिक्त पर पदार्थ कुछ भी इस आत्मा के नहीं हैं। दृष्टि हो तो अपने गुण विकास की। उत्तम मार्दव धर्म आत्मा का सहज गुण है। उसी पर दृष्टि हो, उस पर उपयोग हो तो आत्मा का यह सहज मार्दव धर्म प्रकट होगा।

जिस प्रकार बिजली के गिरने से पर्वत चूर हो जाता है उसी प्रकार इस मार्दव रूपी शस्त्र से इस मान कषाय पर आक्रमण करके इसे चूर कर देना चाहिए। अपने आपके चैतन्य की महिमा द्वारा इन तुच्छ ८ प्रकार के मदों को मृदुलता के उपचार से कुचल डालना चाहिए। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो कि परोपकार का कार्य करके भी मान कषाय अपने अन्दर उत्पन्न ही नहीं होने देते। और अधिकांश लोग तो प्रायः इसी प्रकृति के होते हैं कि कुछ थोड़ा बहुत दान देकर अपना यश चाहते हैं। और अपनी इस मान कषाय को नाम आदि लिखाकर पुष्ट करना चाहते हैं। हस्तिनापुर का एक दृष्टान्त ऐसा सुनने को मिला है कि वहां के क्षेत्र का जब दि० जैन मन्दिर बना तो किसी एक व्यक्ति ने ही उसे बनवाया। मन्दिर जब पूर्ण बन चुका और मन्दिर की शिखर पर सिर्फ कलश चढ़ना शेष रहा तो उस व्यक्ति ने पंचायत बुलाकर कहा कि अब हमारे पास पैसा नहीं रहा। सभी लोग चंदा जोड़कर कलश चढ़ा दो। हम कलश चढ़ा सकने में असमर्थ है। तो देखो ना, जिसने सारा मन्दिर बनवा डाला उसके पास क्या कलश चढ़ाने भर को पैसे न होंगे?—होंगे, फिर भी उसे अपनी मान कषाय का समन करना था, कहीं ऐसा न हो कि मेरे अन्दर ऐसी मान कषाय उत्पन्न हो जाय कि

यह हमारा मन्दिर है। मैंने इसे बनवाया है। ऐसे इस मान कषाय को अपने में न आने देने के लिए ऐसा किया था। पुराण पुरुष (बुजुर्ग लोग) इस तरह के हुआ करते थे, पर आज कल तो जरा सा कहीं कुछ दान कर दिया तो झट शिलालेखों में अपना नाम अङ्कित करवा देते हैं। देखिये कितना यश का लोभ है, कितनी पर्यायबुद्धि है कि यश के लोभ में मान कषायका समावेश रहता है। तो हमें ऐसे अपने बुजुर्ग लोगों से यह शिक्षा लेना चाहिए कि हर सम्भव उपायों द्वारा इस मान कषायको ध्वस्त करें तथा अपने आप में बसे हुए इस कोमल सुधामय स्वरूप की दृष्टि रख कर अपना कल्याण करें।

(ॐ ह्रीं मार्दवधर्माङ्गाय नमः)

उत्तम आर्जव

दस धर्म के दस दिनों की पाठशाला में आज तीसरा दिन है। इस दिन आर्जव धर्म का पाठ पढ़ना है। आर्जव नाम है कोमलता के परिणाम का। ,,ऋजोर्भावः आर्जवं,'' चितकी सरलता को आर्जव कहते हैं। चित्त सरल हो कुटिलता रहित हो, मायाकषायरूप वृत्ति न हो ऐसे परिणाम का नाम है आर्जव धर्म। मूल में बात यह समझिये कि जब तक अभिप्राय में स्वच्छता न होगी तब तक आर्जव की प्रकटता नहीं हो सकती। अभिप्राय की स्वच्छता होने का नाम ही आर्जव धर्म है और अभिप्राय की स्वच्छतापूर्वक ही कर्मबन्धन से छुटकारा मिल सकता है। चाहे हम मुनि बनजायें, नाना तरह के तपश्चरण भी करने लगें अथवा अनेक शास्त्रों के पारगामी भी हो जायें, पर जब तक अभिप्राय की स्वच्छता न होगी तब तक कर्मबन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता।

यह आर्जव धर्म यही शिक्षा देने के लिए तो आया है कि हे आत्मन्, अपने हृदय को सरल बनाओ स्वच्छ बनाओ। यही आन्तरिक स्वच्छता तेरे कर्मबन्धन को काट देगी। परमार्थ ढंग से इस आर्जवधर्म का विचार किया जाय तो आत्मा का स्वभाव ही सरलता है। मायाचार न करना किसी को धोखा देने रूप परिणाम न करना, किसी के साथ विश्वासघात न करना यही तो आर्जवधर्म प्रेरणा दे रहा है। यह आत्मप्रभु तो स्वभाव से ही सरल है, पर उपाधिवश यह जीव अज्ञान के वश होकर परपदार्थों को अपना मान रहा है। कोई इन पर पदार्थों को अपना मान तो ले, फिर उनको अपने मन के अनुकूल चाहता है परिणमाना और मन के अनुकूल परिणति उन परपदार्थों में होती नहीं तो इसका दुःखी होना स्वाभाविक बात है। और इन पदार्थों की परिणति किसी दूसरे के मन माफिक हो भी क्यों। अरे जो अत्यन्त भिन्न पर पदार्थ हैं उनमें परिणति तो उनके ही अनुरूप होगी। लोग चाहते हैं उन पर पदार्थों से सुख, इसीलिए तो उनके संचय के लिए अनेक प्रकार के मायाचारी के परिणाम किये जा रहे हैं। जिस ज्ञानी पुरुष को अपने ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा की प्रतीति हो गई है वह इन बाह्य पर पदार्थों के पीछे मायाचारी के परिणाम करेगा ही क्यों ? आज जो मायाचारी के परिणाम लोगों के अन्दर बहुत बड़े रूप में दिख रहे हैं उसका मूल कारण है अपने आत्म-स्वरूप का यथार्थ परिचय न होना। यदि आर्जव धर्म की प्रकटता करना है तो अपने निज स्वरूप को यथार्थ ढंग से जानकर अपने आपके सरल स्वभावी ज्ञानानन्द प्रभु की शरण लेकर और इन वक्रता भरे, मायाचार भरे विभाव भावों से पृथक् होकर इस आत्मस्वभाव में रत हों। इस आत्मस्वभाव में रत होना यही है उत्तम आर्जव-धर्म।

इस आर्जव धर्म के धारण करने से ही इस जीव का कल्याण हो सकता है। मायाचार भरे छल-कपट, बेइमानी आदि से भरे हुए हृदय में धर्म का प्रवेश हो नहीं सकता। जैसे वक्र छिद्र वाले माला के दाने में तागे का प्रवेश नहीं हो सकता इसी प्रकार वक्र हृदय वाले पुरुष में धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता। इस संसार अवस्था में वक्र विभावों में रहना, उनमें रहकर अपना जीवन विताना कितनी अज्ञानता की बात है। जिसे सिद्धालय में जाना है उसे तो सरल बनना ही होगा। जिस प्रकार वक्र छेद वाले माला के गुरिये में यदि तागा पिरोना है तो छिद्र को सीधा करना ही होगा तभी तागा उसमें पिरोया जा सकेगा, इस प्रकार सिद्धालय में जिसे प्रवेश करना है उसे अपने हृदय को पवित्र (सरल) बनाना ही होगा। ऐसा किये विना सिद्धालय में प्रवेश होना असम्भव है। अथवा जैसे सर्प का स्वभाव टेढ़ा चलने का है, परन्तु जब वह विल में जाता है तो सीधा हो जाता है इसी प्रकार इस संसार में हम भले ही मायाचार करके तिरछे चलते हैं, किन्तु यदि हमें सिद्धालय में पहुंचना है तो हमें सरल बनना ही पड़ेगा तथा जिस प्रकार एक सीधी म्यान में टेढ़ी तलवार समा नहीं सकती, इसी प्रकार वक्र हृदय वाले व्यक्ति में आर्जव धर्म समा नहीं सकता। तो अपने आपको सरल बनाओ। जो बात मन में हो, वही वचन में हो, वही काय में हो, इस ही वृत्ति में रहकर उद्धार का मार्ग मिल सकता है। यदि कोई चाहे कि हम मन से तो और कुछ सोचें, वचन से कुछ और ही बोलें और काय से अन्य प्रकार ही चेष्टायें करें तो ऐसे मायाचारी के परिणाम में रहने वाले व्यक्ति का उस स्थिति में कभी भी कल्याण हो नहीं सकता।

अपना कल्याण चाहिए हो तब तो अपने हृदय में सरलता लानी ही होगी। अपने चित्त को विशुद्ध बनाना ही होगा और अपने

आपकी निर्मल परिणति में आना ही होगा तब कहीं संसार के इस विकट कर्म बन्धन से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। कैसा हो हमारा मन निर्मल सो पढ़ते हैं ना पूजा में—"मुनिमनसम उज्ज्वल नीरप्रासुक गंध भरा," अर्थात् अपना मन उज्ज्वल रहे, कैसा उज्जवल—जैसा कि मुनिजनों का रहा करता है। संत वही कहलाता है जिसके चित्त में निर्मलता वनी हुई है। और जिसके चित्त में पक्षपात है, रागद्वेष है, नाना प्रकार के प्रपंच घर किये हुए हैं क्या ये संतपने के लक्षण हैं? संत पुरुषों का मन बहुत ही सरल प्रकृति का होता है। उनके मन में किसी प्रकार की वासना नहीं होती है तो जैसा मुनिजनों का स्वच्छ सरल मन होता है वैसा मन हम आपको भी बनाना चाहिए।

देखिये—बच्चों का भी हृदय बड़ा स्वच्छ हुआ करता है। उन के मन में कोई छल कपट मायाचारी की बात नहीं हुआ करती है। तभी तो अगर कोई उन्हें सिखा दे कि देखो बेटा हम रहेंगे तो घर के अन्दर, पर तुमसे द्वार पर अगर कोई आकर हमारे विषय में पूछे तो कह देना कि बाहर गये हैं। अब क्या होता है कि जब कोई व्यक्ति उस बच्चे से पूछता है कि कहो बेटा तुम्हारे बाबू जी कहां गये? तो वह तो यही कह देता है कि बाबू जी हैं तो घर के अन्दर, पर उन्होंने हमसे यह कह दिया है कि जो कोई हमें पूछे उससे कह देना कि यहां नहीं हैं, कहीं बाहर गये हैं। तो देखिये बच्चे कितने निश्छल प्रकृति के होते हैं। मायाचारी की बातें तो लोग (मां बाप वगैरह) ही सिखा देते हैं। तो उन बालकों की तरह का अपना चित्त निश्छल बनायें तभी हमारे अन्दर इस धर्म का प्रवेश हो सकता है। तो अपने आपको आज के इस आर्जवधर्म के दिन से यह प्रेरणा लेना है कि हमारे समस्त प्रकार के वक्र विभाव मिट जायें और हमारे अन्दर विराजमान जो

भगवान आत्मा है वह अपने आपके सरलस्वभाव में बैठकर शान्तिसुधा का पान करे।

भावों की निर्मलता और भावों की वक्रता यह तो एक बेतार के तार की तरह है। जैसे बेतार के तार में कहीं कोई तार वगैरह का सम्बन्ध तो नहीं दिखता पर क्रिया प्रतिक्रिया तो देखी जाती है, इसी प्रकार इन भावों की भी बात है। जैसा यहां परिणाम होगा वैसा ही वहां दूसरे पर प्रभाव होगा जैसा हमारे प्रति दूसरे का भाव होगा वैसी ही हमारी उसके प्रति भावना होगी। यदि हमारे प्रति किसी के चित्त में मलिनता है तो हमारे चित्त में भी उसके प्रति मलिनता आ जायगी, और यदि हमारे प्रति किसी का आदरभाव है तो हमारे अन्दर भी उसके प्रति आदरभाव बनेगा। ऐसी बात है इन भावों की। जैसे एक दृष्टान्त है कि कोई एक चन्दन की लकड़ी का व्यापारी था। किसी समय चन्दन का भाव गिर गया और उसके पास चन्दन की लकड़ी का बहुत बड़ा स्टाक था, सो वह बड़ा चिन्तित था। जब वह इसी चिन्तना में निमग्न था तो वहां का राजा हाथी पर बैठा हुआ जाता हुआ देखा। अब उस व्यापारी के चित्त में एकदम से यह बात आ गयी कि यदि यह राजा मर जाय तो चन्दन का भाव ठीक स्थिति में आ जायगा, और हमको टोटा न उठाना पड़ेगा। जब राजा उसके सामने से निकला तो उस दिन उस व्यापारी के प्रति राजा को, क्रोध का शत्रुता का भाव जग गया जब कि वह उसका परम मित्र था। राजा समझ गया कि इस व्यापारी को आज हमारे प्रति कोई बात चित्त में आयी है। सो राजा अपने दरबार में अब पहुंचा तो अपने मंत्री को बुलाया और कहा देखो मंत्री यहां जो अमुक व्यापारी हमारा मित्र है उसके पास जाकर गुप्त रीति से उसके

मन में हमारे प्रति क्या विचार है सो मालूम करो, क्योंकि उस व्यापारी के पास से जब कभी मैं निकला करता था तो मेरे मन में उसके प्रति कोई क्रोध का भाव नहीं जगता था, पर दो तीन दिन से मुझे उसे देखकर क्रोध हो जाता है तो उस चतुर मंत्री ने उस व्यापारी के पास पहुंचकर और उसको अभयदान का आश्वासन देकर कहा कि तुम किसी तरह की चिन्ता न करना, तुम्हें कुछ न होने पायेगा, तुम यह बताओ कि तुम्हारे मन में राजा के प्रति क्या विचार चल रहा है ? तो उस व्यापारी ने सारी बात मंत्री से कह सुनाई। देखो मेरे यहां चंदन लकड़ी का बड़ा स्टाक लगा है, चंदन का भाव आजकल काफी गिर गया है, तो इस राजा को देखकर हमारे मन में आ गया था कि अगर यह राजा मर जाय तो चन्दन की लकड़ी का भाव बढ़ जायगा और हमको टोटा न सहना पड़ेगा। अब वह मंत्री राजा के पास गया और सारी बात कह सुनाई। राजा ने मंत्री से फिर कहा—अच्छा जाओ और बहुत ऊंचे रेट पर उस व्यापारी का सारा चन्दन खरीद लाओ। मंत्री ने वैसा ही किया फिर एक दो दिन बाद वह राजा वहीं से निकला तो उस व्यापारी के प्रति पूर्ववत् राजा को कोई क्रोध नहीं जगा। तो क्या बात इस दृष्टान्त द्वारा देखने को मिली कि ये भाव बेतार के तार की तरह हैं। कुछ बात न मालूम हो पावे फिर भी भावों से पहिचान हो जाती है। इतनी अधिक इन भावों की बात है। तभी तो कहां तो ये जड़ पुद्गल कार्माण वर्गणायें और कहां ये जीव के रागद्वेषरूप विभाव। उन अशुद्ध चैतन्यभावों का निमित्त पाकर ये कार्माण वर्गणायें भी इस जीव के साथ चिपक जाती हैं। तो देखो यह भाव की ही तो बात है। कहां तो यह जीव अपने आपके सरलस्वभाव में रहकर सिद्धालय में पहुंच जाता है और कहां वक्र विभावों में रहकर यह चारों वक्र गतियों में घूमकर

दुःख उठाया करता है। इस आर्जवधर्म का पालन करें तो यह लोक भी सुधरे और परलोक भी। छलकपट मायाचार आदि करने से लाभ क्या?

आज कल तो ऐसा समय आ गया कि बाजार में कोई भी चीज (घी, तेल, मसाले आदि) शुद्ध नहीं मिलते हैं। सभी चीजों में मिलावट चलती है। तो यह बात क्यों बन रही है? इसी मायाचार के परिणाम से। आज तो जिधर देखो उधर ही मायाचार, अनैतिकता, छलकपट आदि के दुष्परिणाम देखने को मिल रहे हैं। हां कभी था अपना भारत देश उत्तमवृत्ति का। आज भी यदि ये अनैतिकता के परिणाम लोग छोड़ दें तो क्या अपना यह भारत देश आज भी कुछ दिन पूर्व की जैसी स्थिति वाला नहीं हो सकता। आज तो जिसे देखो वही इस अनैतिकता (मायाचार, कुछ कपट, बेईमानी आदि) से आर्थिक लाभ उठाना चाहता है दर्जी लोग कपड़ा चुराते हैं, सुनार लोग स्वर्ण में खोटी चीजें मिलाते हैं, व्यापारी लोग सैम्पल तो और कुछ दिखाते हैं और माल और कुछ भेजते हैं, इन्जीनियर लोग सीमेन्ट की जगह रेत से ही चिनाई करवाकर उसे पास करा देते हैं। यों कहां तक कहें, जिधर देखो उधर ही मायाचारी के बर्ताव देखने को मिल रहे हैं। यदि हम आप सभी के अन्दर से यह अनैतिकता का व्यवहार खतम हो जाय तो आज भी यह जीवन शान्त सुखी नजर आये। अरे इस मायाचार से भरे जीवन में जीकर क्या लाभ लूट लिया जायगा?

इस मायाचारी का जीवन बिताने वाले को तो तत्वार्थ सूत्र में बताया है कि मायाचार से तिर्यन्चगति प्राप्त होती है। "माया-तैर्यग्योनस्य" अर्थात् मायाचारी करने से तिर्यन्चआयु का आस्त्रव

होता है। अरे जरा विचार तो करो कि इस थोड़े से जीवन में मायाचारी से भरे जीवन को बिताने से क्या फायदा ? अरे यहां से मरकर तिर्यन्च हो गये तो क्या लाभ पा लिया जायगा ? एक पौराणिक कथानक है कि एक मुनिराज एक गांव में चार मास का उपवास करके विहार कर गये, उसी समय दूसरे मुनिराज उस गांव में आये, लोगों ने कहा कि ये कितने बड़े तपस्वी हैं जो चार माह का उपवास किया। मुनि ने इस बात से इन्कार नहीं किया और मान से यह बात सुनते रहे, इसका फल उनको अनन्त कपट का लगा। फल यह हुआ कि त्रिलोक मण्डन हांथी की पर्याय में मरण करके गया। वहाँ वही बधबन्धन, छेदनभेदन आदिक का पात्र बनना पड़ेगा। तो इस जीवन में अपने को सावधानी से रहना है। इस मायाचारी के परिणाम को तो मूल से खतम करना है। कपट से कमाई हुई इज्जत, प्रतिष्ठा धन ये कुछ भी साथ नहीं देंगे। आत्मा को देखो यह अकेला ही जायगा, निरन्तर रागद्वेष आदि कुटिल भावों से रहित सरल ज्ञानमय स्वभाव के दर्शन करते रहो। अपने सरल स्वभावी प्रभु का मायाचार करके तिरस्कार किया तो इसका फल अच्छा नहीं होगा। आर्जवधर्म को धारण करो, इसी में कल्याण है, आनन्दमय स्थिति की इसमें प्राप्ति है देखिये—हम आपने अपने विद्यार्थी जीवन में भी नाना प्रकार के मायाचार किये। कोई विद्यार्थी मेरे से परीक्षा में अधिक अंक न प्राप्त कर सके इसके लिए कितने ही प्रयास किये परीक्षा के समय में दूसरे विद्यार्थी को गप्पों में लगा दिया या और अन्य अन्य उपायों से ऐसी चेष्टा की कि परीक्षा में हमारे से ज्यादह नम्बर किसी के बढ़ने न पावें। तो वहां भी अपने मलिन परिणाम बनाये, मायाचारी के व्यवहार किये तथा लौकिक

जीवन में दैनिक चर्या में होने वाला मायाचार आप सब भली प्रकार जानते ही हैं।

अब धार्मिक क्षेत्र की माया की वात देखिये—बहुत से लोग भगवान के पास पहुंच कर बहुत राग रागनी से गान तान करके झांझ मंजीरा आदि वजाकर भगवान की भक्ति करते हैं, अन्दर से अगर कोई ऐसा भाव रखे हुए है कि ये लोग समझ जायें कि यह तो वड़े धर्मात्मा हैं, अन्दर से धार्मिकता के परिणाम तो न हों, केवल वाहरी दिखावा मात्र हो तो वह तो एक मायाचार की ही वात है। अथवा किसी ने कोई मन्दिर का निर्माण करा दिया, वेदी प्रतिष्ठा करा दिया, किसलिए कर गया कि मुझे वैभव की प्राप्ति हो, भोग साधन मिलें तो देखिये वहां पर भी मात्र धार्मिकता का दिखावा है, अतः उसमें भी मायाचार का परिणाम गर्भित है। अथवा वहुत से साधु जो कि किसी आचार्य के पास रहते है तो उन्हें जव किसी दोप के होने पर प्रायश्चित लेना होता है तो क्या उपाय करते हैं कि आचार्य से सीधी जो वात है सो तो नहीं कहते वल्कि इस तरह से कहते हैं कि जिससे माया-चारी का भाव व्यक्त होता है। जैसे हे गुरुदेव वताइये अगर किसी से ऐसा दोप हो जावे तो उसके प्रायश्चित का क्या विधान है ? सो देखिये करना तो चाहिए था खुद के दोष का प्रायश्चित, पर इस तरह से न करके किसी दूसरे उपाय से कोई हल्का प्रायश्चित कर लेंगे तो इसमें तो मायाचारी के परिणाम का समावेश है और कोई साधु तो आचार्य के कल्याणकारी प्रायश्चित से डरकर अपनी दुर्बलता वताते हुए इस तरह से भी कहने लगते हैं कि महाराज खाना नहीं पचता है, कई दिन तक ज्वर रह चुका है, हम तो बहुत कमजोर हैं आदि नाना प्रकार की बातें बनाकर अपना दोष गुरु के सामने प्रकट—करता है ताकि ऐसा

प्रायश्चित दें जो कम हो या प्रायश्चित मिले ही नहीं। तो देखिये—यहां भी परिणामों में मायाचारी का परिणाम देखने को मिलता है। इसी प्रकार बहुत से लोग तो नमक की रसी इसलिए कर लेते कि बदले में हलुआ मेवा आदि अच्छी चीजें मिलेंगी। अथवा किसी एक रस को इसलिए छोड़ दिया कि बदले में और स्वादिष्ट चीजें मिलेंगी तो ये सब मायाचारी के परिणाम हैं। अब इन मायाचारी के समस्त परिणामों को छोड़ें, उत्तम आर्जवधर्म को अंगीकार करें, अपने आपके अन्दर परिणामों में सरलता लायें तो अपने को कल्याण का मार्ग मिलेगा।

कोई यह सोचे कि हम जो मायाचार छल कपट आदि के परिणाम छिपकर करते हैं ये कोई देखता थोड़े ही है, वह प्रगट थोड़े ही होने पायगा, पर ऐसी बात नहीं है। कुछ समय बाद वह मायाचार प्रकट हो ही जाता है। जैसे एक कथानक है कि कोई राजा अपने बगीचे में घूमने के लिए गया हुआ था। उसे एक जगह किसी पेड़ के नीचे पड़ा हुआ सेव फल दीखा। वह सेव फल बड़ा सुन्दर था, उस पर राजा को लालच आ गया। पर वह पड़ा था गोबर पर, सो राजा ने उसे उठाकर गोबर साफ किया और खा गया। वह देखने लगा कि कोई हमें देखता तो नहीं है। सो देख तो कोई न रहा था। उसने सोचा कि यह काम मैंने छिपकर किया है, प्रकट थोड़े ही हो पायगा, पर देखिये—समय पाकर किस तरह से यह मायाचार प्रकट होता है। एक दिन उसके राज दरबार में कोई नर्तकी अपना नृत्य कर रही थी। उसने बहुत से गीत गाये, पर राजा ने उसे कुछ इनाम न दिया। बाद में एक गीत उसने इस प्रकार गाया—'कह दे हौं ललन की बतियां', सो इस गीत को सुनकर राजा ने यह अर्थ लगाया कि शायद इसने मुझे गोबर से

सेव उठाकर उसे पोंछकर खाते हुए देख लिया होगा सो उसे यह नर्तकी कह देगी, ऐसा यह कह रही है। सो अपना मायाचार छिपाने के लिए राजा ने नर्तकी को एक आभूपण उतार कर दे दिया। आशय राजा का यही था कि अच्छा किसी से कहना नहीं, इस वात के लिए हम तुम्हें यह आभूपण इनाम में दे रहे हैं। पर नर्तकी ने इस गीत–'कह दे हों ललन की वतियाँ', पर जव एक आभूपण पाया तो पुनः पुनः वही गीत गाये। यों राजा ने अपने सारे आभूपण उतार कर दे दिये। जव उस नर्तकी का वह गाना वन्द न हुआ तो राजा को गुस्सा आ गया और वोल उठा—अच्छा कह देना जो कहना हो, यही तो कहेगी कि राजा ने वगीचे में गोवर पर पड़े हुए सेव फल को उठाकर लालच वश उसको पोंछकर खा लिया था। तो लो राजा की सारी मायाचार स्वयं ही खुल गई। तो कोई कितना ही छिपाये, पर मायाचार कभी न कभी प्रकट हो ही जाता है।

और भी देखिये–आगम में तीन प्रकार की शल्य वतायीं गई हैं :– (१) माया, (२) मिथ्या, (३) निदान। शल्य इस जीव को काँटे की तरह चुभती रहती है। मायाचारी की शल्य रखने वाला पुरुप तो सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक किसी भी क्षेत्र में कहीं भी शान्ति से स्थिर नहीं हो पाता। यह शल्य काँटे की तरह चुभा करती है ऐसी इस मायाशल्य को हमें छोड़ना चाहिए। देखो अपन लोग पूजन में पढ़ते हैं ना कि :—

यह पुप्प सुकोमल कितना है, तन में माया कुछ शेप नहीं।
निज अन्तर का प्रभु भेद कहुं, उसमें ऋजुता का लेश नहीं॥
चिन्तन कुछ फिर सम्भापण कुछ किरिया कुछ की कुछ होती है।
स्थिरता निज में पाऊं जो, अन्तर का कालुप धोती है॥

तो अपने अन्दर उठने वाले इन कलुषता के परिणामों को हमें छोड़ना चाहिए और अपने मन, वचन, काय को सरल स्वच्छ पवित्र बनाना चाहिए। जो बात मन में हो, वही वचन में हो, उसी के अनुसार सारी चेष्टायें हों। नीति में अपन लोग ऐसा पढ़ते भी हैं :—

मनस्येकं वचस्येकं वपुष्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् वपुष्यन्यत् दुरात्मनाम् ॥

अर्थात् मन, वचन, काय तीनों की एक रूपता महात्मा का लक्षण है, पर मन में कुछ और, वचन में कुछ और, काय में कुछ और, यह दुरात्मा व्यक्तियों का काम है। याने इतनी सी ही तो बात है कि जो बात मन में हो वही वचन और काय में हो, इसी प्रक्रिया से अपने को कल्याण का पंथ मिलेगा।

अब एक बात और यह सोचना है कि जिन स्त्री पुत्रादिकों के पीछे धन वैभव इज्जत प्रतिष्ठा आदि के पीछे इतने मायाचारी के परिणाम किये जा रहे हैं उनसे इस जीव को लाभ क्या मिलेगा ? अरे ये तो कष्ट के ही कारण होंगे। वस्तुतः मायाचार करके हम अपने आपको ही ठगते हैं। तो हमें चाहिए कि हम अपने आपका घात न करें, अपने आपकी रक्षा करें, अपनी रक्षा इसी में है कि हृदय में उठने वाली छल कपट मायाचार आदि बातों को सदा के लिए तिलांजलि दे दें।

कैसे बहुरूपिया बने फिरते हैं कि नाम तो धराये हैं त्यागी का, वृती का, साधु का और चारित्र है भृष्ट, तो ऐसे मायाचार से क्या लाभ होगा ? अरे जब चारित्र ही बिगड़ा हुआ है तो पंडिताई, त्यागीपन, साधुपना कहाँ टिक सकता है ? इन मायाचार के

परिणामों को त्याग, अपने हृदय में पवित्रता के परिणाम लायें, सरलता के परिणाम लायें तभी इस जीवन में शान्ति की उपलब्धि हो सकेगी। एक दृष्टान्त है कि एक बार श्रीराम और लक्ष्मण किसी सरोवर के तट पर पहुंचे वहाँ उन्होंने देखा कि एक वगुला पक्षी तालाव में एक पैर से वड़ी शान्ति से खड़ा था। जैसे वह स्तव्ध ध्यान कर रहा हो। सो लक्ष्मण से वोले रामचन्द्र जी वगुला की तारीफ करते हुए कि—'पश्य लक्ष्मण पम्पायाँ वकः परम धार्मिकः', अर्थात् हे वन्धु देखो एक पैर उठाये हुए यह वगुला कैसा शान्त मुद्रा (ध्यान की मुद्रा) में खड़ा है। यों श्रीराम ने उस वगुले की प्रशंसा लक्ष्मण से की। फिर क्या देखा कि वह वगुला वड़े इशारे से धीरे से अपना कदम पानी में रखता है तो श्रीराम वोले "शनैः शनैः पदं धत्ते, जीवानां वध शंकयाः" अर्थात् हे वन्धु यह वगुला पक्षी तो कैसा सम्हाल कर धीरे से अपने कदम रखता है, कहीं किसी जीव को मेरे द्वारा कष्ट न पहुंच जाय, ऐसा विचार कर वह वहुत धीरे धीरे कदम वढ़ाता है। यह तो वड़ा धार्मिक मालूम होता है। इतने में ही एक मछली उछलकर पानी से वाहर गिरी तो मानो वह कहती है कि—

वकः किं स्तूयते रामः, ये नाहं निष्कुलीकृताः।
सहवासी हि जानाति सहवासि-विचेष्टतम्॥

अर्थात् हे श्रीराम तुम व्यर्थ ही इस पापी वगुले की प्रशंसा कह रहे हो। अरे इसने ही तो मेरे वंश का नाश किया है। श्रीराम तुम इसकी वात नहीं जानते, चोर ही चोर की वात को जानता है। सहवासी की चेष्टा सहवासी ही जानता है। इसके मायाचार कृत्य से मेरा कुल नष्ट हो गया है और हो रहा है। सो आप सब लोग इस वात को यहाँ देखलो। गृहस्थ गृहस्थों में देखें,

त्यागी त्यागियों में देखें, लोग न जाने किस तरह के मायाचार अपने हृदय गृह में बिठाये हुए हैं। अगर 'मुख में राम बगल में छुरी' का जैसा परिणाम किया जा रहा है तो समझो कि इसमें अपने आपका ही पतन किया जा रहा है।

बड़े वर्णी जी (श्री क्षु० गणेश प्रसाद जी) ने अपनी जीवन गाथा में एक घटना अपने जीवन की ऐसी लिखी है जो कि हम आपके लिए बड़ी ही शिक्षाप्रद है। यों तो उन्होंने अपने जीवन में कई घटनायें लिखीं, पर उनको यहाँ नहीं कहना है। प्रकरणवश उनमें से एक घटना को कहा जा रहा है। वर्णी जी जब मथुरा में पढ़ते थे तब की यह घटना है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि एक बार हमें मथुरा विद्यालय में रहते हुए में ऐसा ध्यान बना कि यहाँ रहते हुए काफी दिन बीत गये, अपनी मां चिरौंजाबाईजी के पास कुछ दिन को घर जाना चाहिए। उस समय विद्यालय के संरक्षक पं. श्री गोपालदास जी बरैया थे। तो घर जाने के लिए क्या उपाय रचा कि मां जी की ओर से एक पत्र स्वयं ही लिखकर वहीं के लेटर बाक्स में छोड़कर पत्र पालें और उसमें यह लिख दें कि बेटे हमारी तबियत काफी खराब है, तुम जल्दी घर चले आओ। तो यही उपाय ठीक जचा। स्वयं ही मां की तरफ से पत्र लिखा और मथुरा के ही किसी लेटरबाक्स में उसे डालकर पत्र पा लिया। बस उस पत्र के साथ अपना प्रार्थनापत्र श्री गोपालदास जी बरैया के पास भेज दिया जब श्री गोपालदास जी ने पत्र को देखा तो सारा हाल समझ गये और पंडित जी से कह दिया कि देखो गणेशप्रसाद से कह देना कि जब घर से लौटे तो हमसे (गोपालदास बरैया से) मिलकर जावे सो जब वर्णी जी

१५ दिन की छुट्टी के बाद लौटकर आये तो पंडित जी के लिखे अनुसार उनसे मिलने के लिए गये। उन्होंने पूछा कि कहो बाईजी की तबियत ठीक हो गई? तो उन्होंने कहा–हां ठीक हो गई। उन्होंने भोजन कराया, और जब मथुरा को जाने लगे तब बोले यह श्लोक याद कर लो—

उपाध्याये नटे धूर्ते, कुटिट्न्यां च तथैव च।
माया तत्र न कर्तव्या, माया तैरेव निर्मितः॥

अर्थात् उपाध्याय, गुरु आदि के साथ कभी मायाचार नहीं करना चाहिए। क्योंकि माया उन्होंने ही बनाई है।तो स्वयं ही गणेशप्रसाद ने बिना ही कुछ बताये समझ लिया कि हमारी मायाचारी का पता इनको भली भांति हो गया है सो कहा है ना कि:–

कपट छिपाये ना छिपे, छिपे न मोटा भाग।
दाबी दूबी ना रहे, रुई लपेटी आग॥

अतः स्वयं ही बोल पड़े कि हां मेरा स्वयं का मन घर जाने का हो गया था इसलिए मैंने ही जाली चिट्ठी मां की ओर से लिखी थी और यहीं के लेटर बाक्स में गेरी थी। तो पं० गोपाल दास जी ने उनकी (गणेश प्रसाद की) सरलता पर प्रसन्न होकर कहा–कि मैं इसकी सरलता पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ और मेरी ओर से इसे तीन रुपया मासिक छात्रवृत्ति और बढ़ा दी जाय।

तो देखिये–सरलता का परिणाम कितना मधुर होता है। ऐसा ही निश्चय करके हे आत्मन्, अपने इस आर्जव धर्म को धारण करो। हम आपका कर्तव्य है कि बड़े वर्णी जी के जीवन

की घटनाओं का पठन-पाठन करके विचार करके, उनके ही जैसे पवित्र जीवन को बितायें, अपने अन्दर उठने वाले मायाचार आदिक के अपवित्र परिणामों को अपने हृदय से निकालें। और भी बहुत से ऐसे सरल परिणामी लोग होते हैं जो कि यहां के इन बाहरी समागमों में मुग्ध न होकर अपने आपकी रक्षा कर लेते हैं। एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है जिस समय दिल्ली में गदर हो गयी तो वहां के धनिकों का लुटेरों ने जबरदस्ती धन लूटना शुरू कर दिया। तो बताते हैं कि एक कोई सेठ जौहरी ने जब देखा कि ये लुटेरे हमारे घर पर भी धन लूटने आयेंगे सो क्या किया कि पहले से ही सारा धन निकाल कर आंगन में डाल दिया, इसलिए कि उन्हें व्यर्थ में खुद को भी व दूसरों को भी हैरान क्यों होना पड़े। सो जब लुटेरे आये और सारा धन आंगन में पड़ा देखा तो आश्चर्य में पड़ गये। उनके पूछने पर उस सेठ ने बता दिया कि हमने सारा धन इसलिए निकाल कर डाल दिया कि आप लोगों को हैरान न होना पड़े। वे लुटेरे उस सेठ की सरलता पर बहुत प्रसन्न हुए और उस धन के लूटने की बात तो दूर जाने दो, वे स्वयं दो तीन लुटेरों को उस धन को रक्षित रखने के लिये छोड़ गये। तो देखिये यह था सरलता का परिणाम।

और, भी एक दृष्टान्त लीजिये—पं० बनारसी दास जी के घर पर एक बार ऐसी घटना घटी कि रात्रि में एक चोर घर में घुस आया और धन की बड़ी पोटली बांध कर उठाने को तैयार हो गया लेकिन वह उससे उठ नहीं पा रही थी, तो यह सब पं० बनारसी दास जी देख रहे थे। तो जब पोटली न उठी तो पं० जीने स्वयं उसे उठवा दिया और उसके घर तक पहुंचा दी, जब वह चोर अपने घर में पोटली ले गया तो उसकी मां ने

कहा कि आज इतनी बड़ी गठरी में क्या माल लाये ? तो उस चोर व्यक्ति ने कहा कि आज की बात कुछ मत पूंछो, आज तो ऐसे घर पहुंच गये कि जिस घर के मालिक ने हमें चोरी करते हुए भी देखा, उसी ने खुद यह पोटली उठवायी और यहाँ तक पहुंचा भी दी। तो उसकी माँ झट समझ गयी और बोली—अरे वह तो बनारसी दास होगा। उसके यहाँ का धन तुम्हें हजम न होगा। फौरन उसे वापिस दे आओ। इस चोर ने सारा धन वापिस दे दिया। तो देखिये इस सरलता का कितना अचिन्त्य प्रभाव होता है।

तो इससे हम आप भी ऐसी प्रेरणा लें कि अपने अन्दर इस सरलता रूप आर्जवधर्म को धारण करें। यह तो आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है। सो इन समस्त प्रकार के विकार भावों को छोड़कर अपने आपके शान्त सरल स्वभाव में आ जायें। जो लोग मायाचार के द्वारा धन कमाते हैं उनका धन दान पुण्य धर्म आदिक के कार्यों में नहीं लग पाता है। पाप परिणामों के द्वारा कमाया हुआ धन पाप कार्यों में ही खर्च होता है। न्याय नीति से, ईमानदारी से कमाया हुआ धन ही दान पुण्य, धर्म आदिक के अच्छे कार्यों में लग पाता है। इसका एक दृष्टान्त है कि कोई एक वेश्या को पाप कार्यों में प्रवृत्त होते—होते जब सारा जीवन बीत गया, तो अन्त में उसे पाप कर्मों से कुछ ग्लानि हुई तो सोचा कि अब तो हमें इन पाप कर्मों को छोड़ देना चाहिए और पाप द्वारा अर्जित धन का भी दान कर देना चाहिए। इससे हमारे जीवन का कल्याण हो जायगा, आदिक विचारों में निमग्न होकर उसने सारे धन को दान में दे देने का निर्णय किया। उसकी इस बात का पता उसके ही किसी पड़ोसी ठग को पड़ गया। वह था भाँड, सो उस भांड ने क्या किया कि खूब अपने

शरीर में राख भभूत आदि लगाकर सन्यासी का भेष बनाकर पास की नदी के तट पर पहुंच गया। आसन लगा कर ध्यान की मुद्रा में बैठ गया। जब वह वेश्या नदी के तट पर गई तो सोचने लगी कि हमें जो सबसे अच्छा सन्यासी दिखेगा उसी को अपना धन दे दूँगी, सो उस वेश्या को वही ठग सन्यासी अच्छा दीखा जो कि भेष बना कर गया हुआ था। जब ध्यान की मुद्रा में सन्यासी जी को देखा तो सामने हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई। सन्यासी ने पूछा कि तुम कौन हो ?—वेश्या। –अरे दूर हट। वेश्या का नाम सुनकर ही हम लोगों को पाप लगता है।–अरे महाराज आज से मैं वेश्यावृत्ति छोड़ दूंगी और वेश्यावृत्ति से कमाया हुआ जो धन है उसे भी आपको दान दे देना चाहती हूँ।–अच्छी बात। सो वेश्या ने वहां खीर खाँड के भोजन बनाये, सन्यासी ने भी खाया और उससे नाना प्रकार के संकल्प कराकर दान भी लिया और आशीर्वाद रूप में कहा कि–

गंगाजी के घाट पर, खाई खीर अरु खाँड।
यों का धन यों ही गया, तुम वेश्या हम भांड॥

तो देखिये पाप द्वारा अर्जित धन पाप में ही लगता है और न्यायनीति ईमानदारी से कमाया हुआ धन ही अच्छे कार्यों में लग पाता है।

लोगों का तो ऐसा व्यर्थ का ख्याल है कि धन दौलत, मायाचारी, छल कपट, अन्याय आदि करके आता है। अरे यह धन तो आता है आत्मा के सरल परिणामों के द्वारा। कोई न्यायनीति को अपनाये तो सही, फिर देखिये इन समस्त विभूतियों की प्राप्ति होती है या नहीं ? अवश्य होगी। होता क्या है इस मायाचार से ? अरे जो होना है सो होगा ही। इस मायाचारी से भरा

हुआ जीवन विताने में सार कुछ नहीं है। जीव का हित तो इसी में है कि वह अपने परिणामों को सरल बनावे, अन्य किसी प्रकार से इस जीव का हित नहीं है। ऐसा जानकर समस्त प्रकार की इन्द्रिय विषयों की अभिलाषा को छोड़ें और अपने प्रत्येक कार्य में इस आर्जव धर्म को प्रकट करें। देखिये पूजन में भी कहते हैं कि—

कपट न कीजे कोय, चोरन के पुर ना बसै।
सरल स्वभावी होय, ताके घर बहु सम्पदा ॥
उत्तम आर्जव रीति बखानी, रंचक दगा बहुत दुःखदानी।
मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन से करिये ॥
करिये सरल तिहु जोग अपने, देख निर्मल आरसी।
मुख करै जैसा लखै तैसा, कपट प्रीत अंगार सी ॥
नहिं लहै लक्ष्मी अधिक छलकर, करमबंध विशेपता।
भय त्यागि दूध विलाव पीवै, आपदा नहिं देखता ॥

तो हमें उपरोक्त बात को विचार कर आर्जव धर्म को जीवन में अपनाना चाहिए। इस आर्जव धर्म के प्रकट होने से ही हमारे जीवन की सफलता है सुन्दर आहार में विष का एक कण भी मिला हो तो वह प्राण का घातक होता है, इसी प्रकार किसी को कितना ही ज्ञान हो जाय परन्तु यदि विषय कषाय से मन मलिन है तो वह आत्मा का घात ही करता है। या जैसे अन्धे के हाथ में दीपक हो तो उस दीपक से अन्धे को क्या लाभ मिलता ? इसी प्रकार मलिन चित्त वाले को शास्त्र ज्ञान कितना ही अच्छा हो उस ज्ञान से उसको कोई लाभ नहीं हैं। अनन्त भवों के बाद यह मनुष्य पर्याय बड़ी दुर्लभता से प्राप्त की है यह जानकर एक क्षण भी अपने जीवन को मायाचार रूप प्रवृत्ति की ओर न जाने दें, निर्मल सरल परिणामों से अपनी आत्मा का कल्याण करें, संसार

के मार्ग दर्शक बनें। इस उत्तम पर्याय में आर्जव धर्म को धारण करने से ही मनुष्य पर्याय की सार्थकता है।

(ॐ ह्रीं श्री आर्जवधर्माङ्गाय नमः)

उत्तम शौच

आज पर्व का चौथा दिन है। इस दिन शौच धर्म की चर्चा चलना है। क्रोध के अभाव में क्षमा धर्म प्रकट होता है। मान कषाय तथा माया कषाय के अभाव में क्रमशः मार्दव और आर्जव धर्म प्रकट होता है, इनकी चर्चा करने के अनन्तर आज हम आप को लोभ कषाय के अभाव में होने वाले शौच धर्म की चर्चा करनी है। शौच धर्म किसे कहते हैं? 'शुचेर्भावः इति शौचं', अर्थात् जो पवित्रता का परिणाम है वह शौचधर्म है। लोभ परिणति का न होना यही है पवित्रता और ऐसे शौच धर्म के साथ जो उत्तम विशेषण लगा है उसका अर्थ है—सम्यक् प्रकार से अपने हृदय में पवित्रता लायें। हम आपको यदि कुछ काम करने को पड़ा है तो यही पड़ा है कि अपने हृदय में उत्तम पवित्रता को उत्पन्न करें। हम आपने अभी तक शरीर की शुचिता (पवित्रता) को ही धर्म माना, पर शरीर की शुचिता हो जाने मात्र से शौच धर्म नहीं होता। अपने में शौचधर्म लाने के लिए अन्तःमल शोधन करना होगा।

लोक में भी शुद्ध खालिस को बोलते हैं। विजातीय पदार्थ का जहाँ सम्बन्ध न हो ऐसे पदार्थ को शुद्ध कहते हैं। खालिस,

एक, प्योर पदार्थ जहाँ रहे, उसमें दूसरे पदार्थ का संयोग न हो ऐसे पदार्थ को शुद्ध कहते हैं। और जहाँ उसमें किसी दूसरी चीज का सम्बन्ध हो गया कि बस उसकी शुद्धि खतम। तो इसी तरह यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप में रहता है तब तो है यह खालिस पवित्र, अकेला और जहाँ इस आत्मा का इन विजातीय पदार्थों के साथ सम्बन्ध हुआ वहाँ हो जाता है यह अपवित्र। देखो ना, इस आत्मा के साथ कैसे-२ विजातीय पदार्थ लगे हुए हैं द्रव्य कर्म लगे हैं, नो कर्म लगे हैं, भाव कर्म लगे हैं, यह ही तो है एक साथ विजातीय पदार्थों का संयोग। इसी कारण यह आत्मा अपवित्र बन रहा है। अरे आत्मा को शुचि करना है तो चेष्टा यह होना चाहिए कि जिन रागद्वेष मोहरूप परिणामों के द्वारा, जिन विषय कषायों रूप करतूतों के द्वारा इन द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म का संचय किया है उनको हटायें और अपने आपकी इस पवित्र परम पावन ज्ञान स्वरूप आत्मा की सुध लें। लोभ कषाय समाप्त करें। शौच अर्थात् पवित्रता होना। जिन्हें वास्तविक पवित्रता का भान नहीं हैं, जो देह को ही अपना मान रहे हैं ऐसे अज्ञानी जीव शरीर की पवित्रता को ही अपनी वास्तविक पवित्रता मान रहे हैं। अरे यह शौच धर्म नहीं है। जिनको देह और आत्मा में अभी भेद विज्ञान नहीं हुआ उनके आत्मा में अभी शौच धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई। सो जो जीव पर में आशक्त हैं वे महा मलिनता में लिप्त हैं। देखिये—शौच धर्म करने चले हो तो पर की आशक्ति को छोड़ो। पर पदार्थ इस आत्मा से अत्यंत भिन्न हैं, निराले हैं। वे अपने ही अस्तित्व में हैं, तूं अपने अस्तित्व में है, वे अपने ही द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव में हैं, तेरा सब कुछ तुझ में ही है और उन पर-पदार्थों का उनका सब कुछ उनमें ही है। वे अपनी गुण पर्यायों से तन्मय हैं, तूं अपनी गुण पर्यायों से तन्मय है, ऐसी सम्यक् बुद्धि

बनाकर वस्तु स्वरूप के स्वातंत्र्य को निरख कर परकी आशक्ति को तूं छोड़ दे, पर में आशक्ति छोड़कर तूं शुचिता को अङ्गीकार कर। पर को पर जान और निज को निज जान, इससे ही पवित्रता का प्रादुर्भाव होगा।

इस जीव की ऐसी मिथ्या बुद्धि बन रही है कि ये पर पदार्थ मेरे हैं और मैं पर पदार्थों का हूँ। मैं तो इन पर पदार्थों का ही बना रहूँगा, ये पर पदार्थ मेरे ही बने रहेंगे, ऐसी जहाँ कुबुद्धि बनी है इस कुबुद्धि में शौच धर्म का आविर्भाव कैसे हो सकता है? अपने में यदि पवित्रता लाना है तो इस अंतरंग मिथ्या मान्यता को छोड़ना होगा और वस्तु स्वरूप के यथार्थ परिज्ञान द्वारा अपने परम पावन निष्काम स्वरूप की शरण लेनी होगी। अरे इस परम पावन स्वरूप में किसी बाहरी चीज का कुछ भी लगाव नही है। यह तो स्वयं ज्ञानानन्द स्वभावी है, फिर मैं पर में लोभ को छोड़ कर, उनका संचय (संग्रह) छोड़कर क्यों न अपने ही ज्ञानानन्द स्वरूप में लीन होऊँ, नहीं तो फिर मलिनता ही हाथ लगेगी। हमें शुचिता चाहिए, विशुद्धता चाहिये तो कर्त्तव्य है कि अपने अन्दर उठने वाले समस्त विकार भावों को इस तरह धो दें, खतम कर दें कि जैसे गंदे वस्त्र को धोकर उसकी गंदगी दूर कर दी जाती है।

देखिये—इस मिथ्या बुद्धि से ही तो ये सब बातें बनी कि शरीर की शुचिता से आत्मा का धर्म होता है। अरे यह शरीर तो महा अपवित्र है। प्रथम तो यही बात देखिये कि माता पिता के रजवीर्य से यह शरीर बनता है। तो जब मूल से ही यह अशुचि चीजों से बना है तो फिर इसकी अशुचिता की और कथा कहना ही क्या है? यह शरीर राध-रुधिर मलमूत्र, खून, पीप, नाक, थूक, कफ, खकार आदिक महा अपवित्र चीजों का पिण्ड

हैं, इसके समान घिनावनी चीज और क्या कही जाय ? ऐसे इस अपवित्र देहकी शुद्धि क्या कहीं गंगा जमुना आदिक नदियों में नहाने से हो सकती है ? बहुत से लोगों की ऐसी मान्यता है कि गंगा जमुना आदिक नादियों का जल अथवा किसी कुण्ड या किसी तालाव का जल पवित्र है, उसमें स्नान करने से समस्त पाप कर्म धुल जाते हैं, पर उनकी इस मान्यता में विडम्बना की बात ही आती है। यदि ऐसा हो तब तो फिर ये मल्लाह, ये कछुवे, ये मछली वगैरह जो कि जल के बीच ही रहा करते हैं उन्हें तो पूर्ण पवित्र हो जाना चाहिए था, पर ऐसी बात नहीं है। अरे कहीं इनमें नहाने से पवित्रता नहीं आती। पवित्रता आती है अपने आपके ज्ञानस्वभावी निर्मल आत्म स्वरूप में स्नान करने से। तभी देखिये—एक जगह अर्जुन को श्री कृष्ण ने गीता में उपदेश दिया है कि—

आत्मा नदी संयम पुन्य तीर्था, सत्योदका शीलतटोदयोर्मी।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डु पुत्र, न वारिणाशुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

अर्थात् हे पाण्डु पुत्र, यह आत्मारूपी नदी संयम रूप पवित्र तीर्थ वाली है और इसमें शील रूपी तट है और उसमें संयम सत्य रूपी जल भरा हुआ है और यहाँ नाना प्रकार की ये दयारूप लहरें उठ रही हैं। तो हे पाण्डु पुत्र ! तूं इस आत्मा रूपी नदी में स्नान कर। अपने आपके ज्ञान स्वभाव में अवगाहन कर। वहाँ डुबकी लगाकर अपने आपके उपयोग को उस ज्ञानस्वभाव में ही ले जाया जाय तो वहाँ पवित्रता का प्रादुर्भाव हो सकता है। और इस वाह्य स्नान आदि से यह अशुचि शरीर कभी भी पवित्र नहीं हो सकता। जैसे मल से भरे हुए घड़े को कितने ही वस्त्रों से, रंग-विरंगी चित्रकारियों से, कागजों से अथवा स्वर्ण की चादर से

संजाया जाय फिर उसे ऊपर से कितना ही धोया जाय पर उसकी अपवित्रता मिट नहीं सकती, इसी तरह इस शरीर को कितना ही स्नान करके अथवा तेल कंघा आदि संस्कार अथवा क्रीम, पाउडर, स्नो आदि के प्रयोग से सजाया जाय पर इसकी अपवित्रता कभी मिट नहीं सकती।

आज तो इस शरीर को सजाने के न जाने कितने ही फैशन चले हैं। बहुत सी फैशन की चीजें तो ऐसी चल गई हैं कि जिनको देखकर बड़े बूढ़े लोग बड़ा आश्चर्य करते हैं कि हमने तो ऐसी कभी कल्पना भी न की थी। देखिये इन बाहरी साधनों से शरीर की अपवित्रता मिट नही सकती। तो उस शरीर की स्नान आदि से पवित्रता मानने जैसी स्थिति का भ्रम छोड़कर दृष्टि रखें अपने आपके पवित्र चैतन्य स्वभाव की ओर। हमें अपने अन्दर उठने वाले इन लोभादिक कषायों की मलिनताओं को दूर करना है। देखिये—अन्य कषायों के प्रादुर्भाव में यह लोभ कषाय ही कारण है। अब लोभ होने की अलग अलग बातें हैं। किसी को धन का लोभ होता, किसी को प्रतिष्ठा, यश, कीर्तिका लोभ होता, किसी को अपनी स्त्री पुत्रादिकों का लोभ होता। इस लोभ के कारण ही होता है मायाचार और जहाँ मायाचार है वहाँ मानका होना भी स्वाभाविक है। और जब मान हुआ तो वहाँ पर में अपने अनुकूल परिणमन न होने से क्रोध भी उत्पन्न हो जाता है। तो परिणाम क्या निकला कि पाप का बाप यह लोभ कषाय है। इस लोभ कषाय के कारण ही तो समस्त न्याय अन्याय, नीति अनीति, भक्ष्य अभक्ष्य आदिक का विवेक नहीं रहता है और लोभ कषाय में यह जीव अपना अहित कर डालता है। आपको एक कथानक शायद मालूम ही होगा कि काशी से पढ़कर एक कोई पंडित जी अपने घर आये। उन्होंने पढ़ने में बड़ा श्रम किया।

ज्योतिष, अलंकार, छंद काव्य, साहित्य न्याय, आदिक सब विषयों का अध्ययन किया था। जब घर पहुंचे तो वहाँ अपनी नव-विवाहिता स्त्री से बहुत बढ़-बढ़ कर बातें करने लगे। हमने वहाँ (काशी जी में) बहुत पढ़ा लिखा है। पूरी पंडिताई हमने पास कर ली है। तुम्हें भी जो कुछ पूछना हो वह हमीं से पूछ लिया करना। तो स्त्री बोली—अच्छा बताओ-पाप का बाप कौन है ? तो पंडित जी सोचने लगे कि अरे हमने इस प्रश्न को तो कहीं लिखा हुआ नहीं पाया। तब पंडित जी ने एक नहीं, अनेकों ग्रन्थ उलट पलट कर देख लिए पर कहीं उनका यह प्रश्नोत्तर लिखा हुआ न दिखा। तो पंडितजी उस समय बहुत सरमाये और सोचा कि जब मैंने केवल अपनी स्त्री के ही प्रश्न का उत्तर न दे पाया तो फिर गाँव के द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर मैं किस तरह से दे सकूंगा ? सोचा कि देखो गुरु जी ने हमें पढ़ा तो सब कुछ दिया पर एक प्रश्न को उन्होंने हमसे छिपा लिया है। अच्छा अब हमें गुरु के पास जाना चाहिए और इस प्रश्न का उत्तर लेकर आना चाहिए। उस रात पंडित जी को नींद नहीं आयी और रात के चार बजे ही घर से चल पड़े। चलते-चलते जब किसी गाँव के निकट पहुंचे, सूर्यास्त भी हो गया तो सोचा कि इसी गाँव में रात्रि को विश्राम करना चाहिए और सवेरा होते ही फिर चल देंगे। तो उस गाँव में जो प्रथम ही मकान था उसी के द्वार की दालान में ही विस्तर लगाकर लेट गये। थके तो थे ही, सो झट सो गये। प्रातः काल शीघ्र ही जब घर की मालकिन ने देखा कि कोई अपरिचित व्यक्ति सो रहा है तो उसे जगाया और पूछा कि आप कौन हैं ? कहाँ से आये हैं, और कहाँ जावोगे ? तो उसने सारा हाल बता दिया, कि मैं पंडित हूँ, समतापुर ग्राम से आया हूँ, वहाँ मेरी स्त्री ने मुझ से एक प्रश्न

पूछ दिया, पाप का बाप क्या है ? तो इस प्रश्न का उत्तर लेने के लिए काशी जी अपने गुरु के पास जा रहा हूँ। अच्छा आप बतलाइये कि आप कौन हैं ? तो स्त्री ने बताया कि मैं तो वेश्या हूँ। अरे रे रे मैं व्यर्थ ही यहां ठहर गया था, मुझे तो वेश्या शब्द सुनते ही पाप लग गया। अब मुझे प्रायश्चित लेना पड़ेगा। कोई बात नहीं महाराज, ये लीजिये ५००), अगर आपको पाप लग गया है तो इन रुपयों के द्वारा अनुष्ठान करके प्रायश्चित कर लेना। अच्छा ठीक है। मगर महाराज, आप थके हुए हैं आप हमारे घर आ गये हैं तो अब भोजन करके जाना, यों ही नहीं। अरे यहां मेरा भोजन करना योग्य नहीं, बहुत बड़ा पाप लगेगा। अरे महाराज उसके लिए लीजिए ५००) और अगर आपको पाप लगे तो आप अपना अनुष्ठान करके प्रायश्चित ले लेना—अच्छा ठीक है। अब वेश्या ने सारी भोजन सामग्री इकट्ठी कर दी और कहा महाराज आपकी हमारे ऊपर बहुत कृपा हुई है। आज तो आपके आ जाने से हमारा घर पवित्र हो गया है। अब तो हमारे ऊपर एक कृपा और कीजिये कि हमारे हाथ से बनाया हुआ भोजन कर लीजिये, तो हमारा जीवन ही सफल हो जाय तो पंडित जी बोले—नहीं, नहीं ऐसा तो नहीं हो सकता। कई बातें मान ली आपकी पर अब यह बात न हो सकेगी। अच्छा महाराज यदि आपको पाप लगे तो ये और लीजिये ५००) की गिन्नी और इनके द्वारा अनुष्ठान करके प्रायश्चित कर लेना। अच्छी बात। जब वेश्या भोजन बना चुकी, भोजन करने को पंडित जी तैयार हो गये तो फिर वेश्या ने कहा—महाराज आपने मेरे ऊपर बहुत कृपा की, आपने हमारी बातों को सब स्वीकार कर लिया। अब देखो यहाँ कोई देखता भी नहीं हैं, अब तो आप हमारे हाथ से एक कौर मुख में लेकर और खा लो। अरे नहीं नहीं, ऐसा न करो, हमको

पाप लगेगा। अच्छा महाराज आपको पाप लगे तो ये लीजिए ५००) की मोहरें, इनके द्वारा अनुष्ठान करके प्रायश्चित ले लेना। तो पंडित जी उसके हाथ से कौर अपने मुख में डलवाकर खाने को भी तैयार हो गये। तो वेश्या ने कौर हाथ में लेकर मुख में तो न डाला, पर दो तीन थप्पड़ पण्डित जी के गालों पर जड़ दिये और कहा—अरे जिस प्रश्न का उत्तर लेने के लिए तुम काशी जा रहे हो उसका उत्तर यहीं ले लीजिए। 'लोभ पाप का बाप बखाना', देखो लोभ में आकर हम आप क्या-क्या अधर्म कार्य करने को तत्पर नहीं हो जाते।

अपने इस जीवन में भी देख लीजिये—इस लोभ कषाय के वशीभूत होकर ही तो सारे पाप कार्य किये जा रहे हैं। जिसको भी जिसका लोभ है उसके लिए स्वच्छन्द होकर पापमयी प्रवृत्तियों को ही करने में संकोच नहीं करता। किसी को स्त्री का लोभ है, किसी को धन दौलत का लोभ है, किसी को अपनी इज्जत प्रतिष्ठा का लोभ है, इन परपदार्थों के लोभ में आकर ही तो आज सारे अनर्थ हो रहे हैं। अरे यदि अपने आपके अन्दर इस शौच धर्म का प्रवेश कराना है तो इन समस्त बाह्य पदार्थों की उपेक्षा करके अपने आपके अन्दर विराजमान पवित्र आत्मतत्त्व का अवलम्बन लेना होगा। उसी की शरण में आना होगा। इस निज ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही स्थित होवें, अपने आपके सम्यग्ज्ञान चारित्र स्वरूप में रमण करें तो यही है अपने आपकी वास्तविक पवित्रता। यहाँ की शरीर की ऊपरी सफाई रखने भर से काम नहीं चलेगा। अरे इस शरीर से भिन्न इन पुण्य पाप आदिक पौद्गलिक कर्मों से विभिन्न निज आत्मस्वरूप का सही परिचय प्राप्त करें और अपने आपके अन्दर इन रागद्वेष विषय कषाय

आदिक उठने वाले विकार भावों को जड़ से धो डालें तभी इस आत्मा में शौच धर्म का प्रादुर्भाव हो सकता है।

बाह्य बातों में आशक्ति बनी रहना यह तो बड़ी मूढ़ता है। पवित्रता दो प्रकार की बताई गई है-(१) बाह्यशुद्धि (२) अन्तरंग शुद्धि। यद्यपि गृहस्थावस्था में रह कर यह बाह्य शुद्धि भी आवश्यक है। इसका निषेध तो नहीं किया जा रहा, यह तो आवश्यक ही है। क्योंकि बाह्य शुद्धि न रखने से कृपणता का दोष भी रहेगा, भावों में पवित्रता भी नहीं रहती, व्यवहार दृष्टि में अच्छा भी नहीं लगता, तो इसलिए बाह्यशुद्धि तो आवश्यक ही है, पर इसी को ही यदि कोई धर्म समझ बैठे तो वह मिथ्यात्व है। इस बाह्यशुद्धि में धर्म न मानें, हालाँ कि यह बाह्यशुद्धि इस अन्तरंग शुद्धि का कारण है इसलिए करना ही चाहिए, पर इसे ही अपना धर्म समझें और इसी बाह्यशुद्धि से ही यदि अपने को बड़ा समझें और दूसरों को तुच्छ समझें तो वहाँ इस शौच धर्म का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। ऐसा समझ कर इस बाह्यशुद्धि को ही वास्तविक शुद्धि न समझें, अन्तरंग शुद्धि की ओर ध्यान रखें। इन लोभादिक विकार भावों का त्याग करें।

परमार्थ बात तो यह है कि जो यहाँ चाह की बात चित्त में बैठी है कि मैं दूसरों का उपकार कर दूं, दूसरों को उपदेश दे दूं तो यह भी एक लोभ है, इस लोभ को भी त्यागना होगा तभी उत्तम शौच धर्म प्रकट हो सकता है। यह उत्तम शौच तो आत्मा का ही एक पवित्र गुण है। इस गुण को प्रकट करने के लिए समस्त परपदार्थों का लोभ त्यागना होगा और अपने उस निर्लोभ-स्वरूप की उपासना करनी होगी तभी वास्तव में शौच धर्म की

प्रकटता हो सकती है। अरे जिन बाह्य पदार्थों का लोभ किया जा रहा है वे क्या हैं? जड़ पौद्गलिक पदार्थ ही तो हैं। इनके पीछे पड़ कर अपनी वास्तविक निधि को न पाना, यह तो एक अज्ञानता भरी वात है। एक लकड़ी वेचने वाला गृहस्थ था, उस पुरुष का नाम तो था रांका और उसकी स्त्री का नाम था वांका, सो वे रांका और वांका (स्त्री पुरुष) दोनों ही लकड़ियाँ वीनने के लिए जंगल जा रहे थे। रांका आगे-आगे जा रहा था और वांका पीछे थी, सो रास्ते में रुपयों से भरी हुई थैली रांका को दिखी। पैर से ठोकर लगी तो रुपये खनक गये। वह समझ गया कि इस में तो काफी रुपये भरे हैं, पर वह उस पर धूल डालने लगा कि कहीं इस थैली को देखकर मेरी स्त्री को लोभ न आ जाय। इतने में ही वांका भी आ पहुंची, पूछा यह क्या कर रहे हो? तो रांका वोला कि इस रुपयों की थैली पर धूल डाल रहा हूँ, तो स्त्री फिर वोली-अरे तुम धूल पर धूल क्या डालते हो? छोड़ो, आगे वढ़ चलो। तो देखिये-उस स्त्री की दृष्टि में वह धन धूलवत् था। यहाँ यह शिक्षा दी गई है कि यदि अपने आपके अन्दर शौच धर्म को प्रकट करना है तो यहाँ के दिखने वाले इन पौद्गलिक ढेरों को धूलवत् समझें, उनमें न ललचावें और पवित्रता रख कर लोभ कषाय का त्याग करें।

अरे यहाँ के इन पौद्गलिक ढेरों को (सोना, चाँदी आदि वैभवों को) ही सर्वस्व समझकर उनके पीछे हैरान होना, उनके ही पीछे रह कर अपने जीवन को खो देना यह तो एक मूढ़ता भरी वात है। अरे अपने अन्दर वैठी हुई कलुषताओं को धोकर परम पावन वनो। यहां तृष्णा कर करके किसी को तृप्ति नहीं मिल सकती। देखिये-मुहम्मद गजनवी ने सोमनाथ के मन्दिर पर ७ वार चढ़ाई

की। वहाँ के वैभव को हड़पा, मूर्तियों को खण्डित किया, वहुत सा धन अपहरण भी किया पर उसे संतोष न मिला। उसकी तृष्णा और भी बढ़ती गई। आखिर उसका जब अन्त समय आया तो कुछ होश हुआ और अपनी करनी पर उसे बड़ा पछतावा हुआ और कुछ लोगों से कह दिया कि देखो हमारा जब मरण हो जावे तो अर्थी से बाहर मेरे दोनों हाथ निकाल देना, ताकि दुनियां के लोग भली भाँति समझ लें कि देखो इसने यहाँ पर बड़े-बड़े अत्याचार करके, बड़ी–बड़ी तृष्णायें करके, लोभ कषाय के वशीभूत होकर इतना धन का संचय किया, और यह आज यहां से खाली हाथ जा रहा है। तो यहां का कुछ भी साथ जाने वाला नहीं है।

व्यर्थ में मिथ्याबुद्धि करके यहाँ के परपदार्थों में अपनत्व की बुद्धि की जा रही है। अरे यह वाह्य पदार्थों का लोभ इस आत्मा का कुछ भी सुधार करने वाला नहीं है। समस्त प्रकार के लोभों को तजकर अपने निर्लोभस्वरूपमय दृष्टि में उपयोग दें, इसमें ही हम आपका भला है। वहुत से लोगों को इस धनकी ऐसी ममता होती है कि इस धन के पीछे अपनी आत्म हत्या भी कर लेते हैं अथवा उनका हार्ट ही फेल हो जाता है। आज जो वेईमानी, ब्लेक मार्केटिंग, इनकम टैक्स की चोरी करने आदि की अनेक लतें जो लोगों में दिख रही हैं उन सबका मूल कारण यह लोभ ही तो है। लोगों को जो स्त्री के प्रति लोभ होता है वह क्यों होता है ? उनकी दृष्टि इस शरीर पर रहती है। इस शरीर से भिन्न जो आत्मतत्व है उस पर उनकी दृष्टि नहीं जाती इसी कारण तो वे इस अपवित्र शरीर में ही लोभ करके पीछे अपना जीवन व्यर्थ ही गंवा देते हैं।

साहित्य का एक प्रसिद्ध दृष्टान्त देखिये—तुलसीदास जी को

अपनी स्त्री के लोभ में आकर क्या घटना घटी इस पर जरा ध्यान दीजिये। उनकी स्त्री-(नव विवाहिता स्त्री) जब अपने पीहर चली गई तो उससे मिलने की उनको तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई, सो रात्रि में ही अटपट पगडंडियों से चले जा रहे थे वे। रास्ते में एक नदी पड़ी, उसमें उतराते हुए किसी लकड़ी के ठूंठ को हा रात्रि में नौका समझकर उस पर बैठकर किसी तरह से नदी तैर गये। नदी पार होकर अटपट रास्तों से उस गाँव पहुंचे जहाँ कि उनकी ससुराल थी। जब ससुराल के घरमें जाने को हुआ तो घर के पीछे से ही छालदीवाल से चढ़ने की बात सोची। आखिर कोई रस्सी सी लटक रही थी। उसको पकड़ कर चढ़ गये। वह रस्सी नहीं थी बल्कि सर्प था। खैर किसी तरह ऊपर पहुंचे, स्त्री से मिले व अपनी सारी कथा कह सुनाई। तो देखिये-एक स्त्री के लोभ में ही आकर तुलसी दास जी-कितनी कितनी परेशानी में पड़े। एक स्त्री के ही लोभ में पड़कर वे अपनी आपकी सुध भूल गये। न जाने कितनी विह्वलताओं में पड़े यह है शरीर का लोभ। तो जब वहां स्त्री आयी तो उसने कहा कि-

> जैसा प्रेम है नारि से, वैसा हरि से होय।
> चला जाय संसार से, पला न पकड़े कोय॥

तो देखिये-अत्यन्त भिन्न परपदार्थों के लोभ में आकर कितना यह उनके पीछे लग रहा है। ऐसी तन्मयता से यदि अपने आपके परम पावन, स्वरूप की ओर लगा जाय तो इसमें कोई संदेह नहीं कि यह कर्मबन्धन से हटकर अपने आपके निजगृह सिद्धालय में पहुंच जाय। तो समस्त प्रकार के लोभों को त्याग कर अपने आत्मा को पवित्र बनायें। इस पवित्रता के द्वारा ही

हमारा उद्धार हो सकता है, अन्य किसी उपाय से हमारा उद्धार नहीं हो सकता।

बड़े वर्णी जी ने (क्षु० गणेशप्रसाद जी ने) एक जगह अपने आख्यान में लिखा है कि कोई एक लड़की द्रोपदी बंगाल में थी। उसकी शादी भी हो गई थी। बाद में उसका पति मर गया। तो सास ससुरने उसे घर से निकाल दिया। वह अपने मां बाप के पास रहने लगी। कुसंयोग से वह चारित्र-भृष्ट हो गयी। सो मां बाप ने भी उसे घर में न रखकर पास के ही खुद के बगीचे में एक कोठा बनवाकर वहीं रख दिया। अब वह द्रौपदी उसी बगीचे में रहा करती थी। वहां के फल फूल आदि से जो आय होती थी उससे गुजारा करती थी, पर चारित्रभ्रष्ट होने के कारण उस बगीचे के फल दैवयोग से कड़वे हो गये थे वहां के कुयें का पानी भी कड़वा हो गया था। यह था उसके पाप कार्यों का परिणाम। यह बात वहां के सभी लोगों को मालूम थी, तो सभी लोग उसकी हंसी उड़ाते थे। एक बार उस द्रोपदी लड़की ने अपने दुष्कृत्यों पर बड़ा पछतावा किया। उसके परिणामों में कुछ विशुद्धि जगी और विचार किया कि अब मैं तीर्थयात्रा करके भगवान का अभिषेक करूँगी, वहीं मेरा प्राणान्त भी होगा, ऐसा उसे आभास हुआ। सो जब वह अपने पिता से तीर्थयात्रा करने जाने का निवेदन करती है, अन्य सभी लोगों को भी इसका पता पड़ा, तो सभी लोग उसकी बड़ी हंसी करने लगे। देखो बिल्ली चूहों का भक्षण करके हज्ज करने जायेगी—सो उस द्रोपदी ने कहा अरे अब मैं वह द्रोपदी नहीं रही जो पहिले थी। अब मेरे हृदय में पवित्रता आयी है, इसका प्रमाण—जाओ बगीचे में जाकर देखो वहां के सभी फल मीठे हो गये हैं और वहां का जल भी मीठा हो

गया है। जव लोगों ने वहां जाकर देखा तो वात सत्य मिली। और जब तीर्थयात्रा में गयी, वहां उसने भगवान का अभिषेक किया तो वहीं उसका प्राणान्त भी हो गया। यह घटना भी अन्य लोगों को सही दिखी। तो देखिये—परिणामों की ही तो सारी वात है। यहां हम आप में से कोई सोचे कि हमने तो वड़ा लोभ किया। वड़े पाप किये, मेरा कैसे उद्धार हो सकेगा? तो उनका यह सोचना ठीक नहीं—अरे अपने आपके अन्दर अंतः सावधानी रखकर पवित्रता का प्रादुर्भाव करें, इन मलिनताओं को हटायें तो हम आप भी अपने अनन्त चतुष्टय के धनी वन सकते हैं। अव जरा इस वात का निर्णय करलो कि यहां सारभूत चीज क्या है। अरे अपने आपका जो समस्त प्रकार के जन्म जरा मरण आदिक रोगों से पृथक् अंतः ज्ञानदर्शन स्वरूप अविनाशी अखण्ड आत्मा है उसका ध्यान करना यही सारभूत वात है और उसी के आश्रय से उत्तम शौचधर्म प्रकट होता है।

कहीं—कहीं तो अखवारों में विचित्र घटनायें सुनने को मिलीं हैं। जैसे एक घटना सुनी है कि किसी के घर में कोई एक चूहा कहीं से २०) के कलदार उठाकर लाया। सो वह चूहा उन रुपयों पर इतना मुग्ध था कि उन रुपयों के चारों ओर खुशी से नाचा करता था। एक दिन ऐसा हुआ कि वह चूहा उन रुपयों को उस विल में से निकाल कर किसी दूसरी जगह लिये जा रहा था, इस वात को मकान मालिक ने देख लिया। एक—एक रुपया करके जव १९ रु० वह वहां रख आया, सिर्फ १) लाने को रह गया तो उसे लेने को जव वह गया उसी बीच मकान मालिक ने जो १९) थे उन्हें उठा लिया। जव चूहा लौट कर आया, उस जगह उन

रुपयों को न पाया तो उसी जगह तड़फ-तड़फ कर दुःख के मारे प्राणान्त को प्राप्त हो गया। यह सब बात किस की है ? यह बात है लोभ कषाय के आशक्ति की।

इस जीव की परपदार्थों में ऐसी तन्मयता हो रही है, ऐसी आशक्ति बनी हुई है कि इसे अपने आपकी कुछ सुध ही नहीं है। अपने ही अन्दर पड़ी हुई अनन्त विभूति को न जानकर यह प्राणी अपने जीवन के दुर्लभ क्षणों को व्यर्थ में ही खो रहा है। अरे ख्याल करो उन मुनिराजों को जिनका शरीर तो अपवित्र सा रहता है, जो नहाते नहीं, शरीर को वस्त्राभूषणों से सजाते नहीं, उनको इस शरीर की सफाई का ध्यान नहीं रहता। वे तो आन्तरिक सफाई करने का ही ध्यान रखते हैं। सो इन आन्तरिक लोभादिक कषाय विकारों को ध्वस्तकर अपनी आत्मा में पवित्रता की प्रादुर्भूति करना यही है उत्तम शौचधर्म। बाह्य परपदार्थों की लिप्सा छोड़ो और अपने अन्तः विराजमान परम-पावन निष्काम कारण परमात्मतत्व की लिप्सा बनाओ। इसी से जीवन की शोभा है।

हम आपको मूल में काम क्या करना है ? अरे जो पाप भाव हैं उनका त्याग करना हैं। यदि अन्दर के पाप भावों का त्याग तो न हो और बाह्य आडम्बरों में ही फंसे रहें तो उससे धर्म पालन न हो सकेगा। मुक्ति न मिलेगी, शान्ति न प्राप्त होगी। अपने आपको समस्त परपदार्थों से, परभावों से न्यारा जानकर उसमें ही स्थित होकर, उसमें ही रम कर, उसको ही अपने उपयोग में लेकर पवित्रता की प्रादुर्भूति होती है, ऐसी पवित्रता को प्राप्त करना यही है उत्तम शौचधर्म का पालन। यह शरीर अस्थिर है, क्षणभंगुर है, रोगादि का घर है, जब कि आत्मा परमपावन है

फिर भौतिक पदार्थों में तृष्णा क्यों की जा रही है समता और संतोप आना चाहिए, मूर्छा आशक्ति हटाना चाहिए। यह आत्मा अकेला ही आता है अकेला ही यहाँ से चला जाता है, फिर यहाँ किस चीज की तृष्णा करना ? संतोप धारण करें। दीन मत वनें, परिग्रह धन सम्पदा को न जोड़ें, इसी में भला है। कहा भी है ना कि—

गोधन गजधन वाजिधन, और रतन धन खान।
जव आवे सन्तोप धन, सव धन धूरि समान॥

जव अपने अन्दर संतोप धन है तव समझिये कि मुझे सव कुछ मिल गया। अगर पर्यायवुद्धि में ही वसे रहे, धन दौलत, कुटुम्व परिजन, मकान, महल, सोना, चाँदी, हाथी, घोड़ा आदि कुछ भी प्राप्त हो जायें, पर संतोप की प्राप्ति विना वे सव दुःख के ही कारण हैं। यहां के दिखने वाले समस्त वाह्य पदार्थ मेरे कुछ नहीं हैं मैं अपने आपके ज्ञानानन्द स्वरूप में लीन होऊं, वीतराग-भाव वनाऊं तो इस भावना से शौचधर्म आता है।

शरीर का एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। मैं तो ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न हूँ, अमूर्तिक हूँ, आकाश की तरह निर्लेप हूँ फिर इस लोभ कषाय के चक्र में क्यों रहना ? यह लोभ ही तो सवसे प्रवल कषाय है, जो कि १०वें गुणस्थान तक रहती है। निर्लोभी वनें। देखो चमरी गाय का दृष्टान्त दिया है ना कि शिकारी लोग उस गाय को पकड़ने के लिए जंगल में उसे दौड़ाते हैं, जव वह भागती है तो उसकी पूंछ झाड़ियो में फंस जाती है। वह गाय अपनी पूंछ के वालों के लोभ में वहीं रुक जाती है। और शिकारियों द्वारा अपने प्राण गंवा देती है। हम आप भी इस लोभ कषाय से ही कर्मवन्धन में पड़ रहे हैं। गुरुवों की सत्कृपा से

इस निर्मल साम्यरस गंगा का निर्मल तट मिला है तो वहां प्रतिदिन कम से कम एक बार डुबकी तो लगायें, इसमें स्नान करने से ही वास्तविक पवित्रता आती है जो पवित्रता अक्षय है, ध्रुव है।

शुचिता आत्मा का स्वभाव है। सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र से आत्मा में शुचिता आती है। जैसे यदि रत्न कीचड़ में गिर पड़ता है तो अनेक यत्न करके भी उसे निकाल लिया जाता है, उसी प्रकार इस महामलिन अपवित्र देह रूपी कीचड़ में पड़े हुए ये सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्‌चारित्ररूप रत्नों को इससे बाहर निकालना है जिससे कि दुबारा वे उसमें न गिर सकें, किन्तु कैसे आश्चर्य की बात है कि आज लोग शरीर में पड़े हुए उन रत्नों को उसमें से निकालना ही भूल गये। और शरीर की अशुचिता को दूर करने में सारे साधन और समय को लगा रहे हैं। अरे यह शरीर तो संसार की अपवित्र वस्तुओं का गोदाम बना हुआ है। अथवा मूल में वस्तुतः अशुचि तो हमारे ही मोह-रागद्वेष रूप परिणाम हैं, इनको दूर करना है। अपनी अन्तः शुद्धि पर जोर दें, ज्ञानी जन इस शरीर के द्वारा आत्म साधना करके मोक्षपद की प्राप्ति करते हैं और अज्ञानीजन इस शरीर में स्थित सारभूत तत्व को न जानकर इस शरीर के द्वारा अनेक प्रकार के पाप कार्य करके निन्द्यगतियों में परिभ्रमण करते हैं। जहाँ तक यह शरीर रूपी घर मौजूद है, इन्द्रियों की शक्ति नष्ट नहीं हुई है, आयु पूर्ण नहीं हुई है तब तक हमें अपने कल्याण के लिए हमेशा प्रयत्न करना चाहिए। आत्मा को मलिन करने वाली भीतर के इस लोभ-कषाय को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

जहां मन शुद्ध हो वहां शौचधर्म प्रकट होता है। संसार को अंधकारमय जानकर एक चित्त से इस शौचधर्म का पालन करो।

इन दुर्भावनाओं का नाश करो। अकलंक और निकलंक की तरह अपने परिणाम बनाओ। इस पवित्र शौचधर्म की छत्रछाया में रहकर शान्ति पाओ। किसी नगर में एक लोभी साहूकार रहता था। उसको यह शौक था कि सोने की प्रत्येक वस्तु का सोने का जोड़ा अपने पास रखता था। उसने अत्यन्त लोभ से पैसा कमाकर सोने के दो बैल, दो घोड़े और हाथी आदिक जानवर अपने तहखाने में रख दिये और वहाँ एक आराम कुर्सी में बैठकर संतोष माना करता था। यह बात किसी देवको मालूम हुई तो देव इसके लोभ की परीक्षा करने उसके घर पहुंचा और साहूकार को तुरन्त आवाज देकर बाहर बुलवाया। सेठ ने तुरन्त उठकर किवाड़ खोला और देखता है कि एक देव बाहर खड़ा है सेठ ने आने का कारण पूछा सो देव ने बताया कि मैं तुम्हारी इच्छा की तृप्ति करने आया हूँ। तुम्हें जो मांगना हो मांग लो। तो सेठ ने सोचा कि मैं क्या माँगू ? धन-दौलत, सोना, चांदी अथवा राज्य तक भी मांगू तब भी शान्ति न मिलेगी। तो ऐसी चीज मांग लूं जिससे तृप्ति हो जाय। तो सेठ ने कहा कि मुझे ऐसा वरदान दो कि मैं जिस चीज को छू लूं वह स्वर्ण बन जाय। तथास्तु कह कर देव चला गया। अब क्या हुआ कि सेठ जिस कुर्सी पर बैठा वह कुर्सी भी सोने की बन गयी। कपड़ों को छुआ तो वे भी सोना बन गये, फिर भींट को छुआ तो वह भी सोने की बन गयी। अब तो वह बड़ा मौज मानने लगा, क्योंकि जो भी चीज छुऐ वह स्वर्ण की बन जाय। अब जब दोपहर का समय हुआ, भूख लगी, खाना खाने को गया तो पानी के लोटे को छूने पर वह भी सोने का बन गया, थाली को छूने से वह भी सोना बन गई और यहां तक कि वह खाना भी गले में पहुंचकर सोना बन गया। तो अब सेठ को रोटियां गले में गड़ीं। उसको बड़ी वेदना हो गयी। तो अन्त में वह विचार करता है कि

यह सोना जो मुझे दुःखदायी हुआ, यह सब लोभ कषाय के परिणाम से हुआ, सो वह तुरन्त ही लोभकषाय का त्याग करके और उस देवकी आराधना करके अपना दुःख दूर कर लेता है तो इसी प्रकार हमें भी इस लोभ को दूर करके अपने निज कारण परमात्म देव की उपासना करके सुखशान्ति पाना चाहिए, पवित्रता की आविर्भूति करके सर्वकल्याणमय स्थिति का पौरुष ही इष्ट होना चाहिए। यही सारभूत बात है। पूजन की निम्न पंक्तियों को याद करो—

धरि हिरदै सन्तोष, करहू तपस्या देह सों।
शौच सदा निर्दोष, धरम बड़ो संसार में॥

उत्तम शौच सर्वजगजाना, लोभ पाप को बाप बखाना।
आशा पास महादुःखदानी, सुख पावे संतोषी प्रानी॥

प्राणी सदा शुचिशील जप तप, ज्ञान ध्यान प्रभावतें।
नित गंगजमुन समुद्र न्हाये, अशुचिदोष स्वभावतें॥

ऊपर अमल मल भरो भीतर, कौन विध घट शुचि कहैं।
बहुदेह मैली सुगुन थैली, शौचगुण साधू लहैं॥

(ॐ ह्रीं उत्तम शौधर्माङ्गाय नमः)

उत्तम सत्य

आज सत्य धर्म की विवेचना चलती है। उत्तम सत्य क्या है? उत्तम सत्य मायने पूर्ण सत्य। पूर्ण सत्य वह होता है जो निरपेक्ष, निरूपाधि ध्रुवस्वभाव है, वह होता है पूर्ण सत्य! जो

स्वतः सिद्ध अपने आपमें अन्तः प्रकाशमान हो वह पूर्ण सत्य है। ऐसे पूर्ण सत्य की आराधना जो पुरुष करते हैं उनमें होता है यह उत्तम सत्य धर्म। जीवन में अशुद्ध बने रहें, अभिप्राय में निर्मलता न हो, यही मूल में असत्यता है। मिथ्या बुद्धि में जो अपना जीवन गुजारा जा रहा है वह जीवन तो एक असत्य जीवन है। अपने जीवन को यदि सत्य के साँचे में ढालना है तो सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि सम्यग्दर्शन सहित अपना जीवन वितायें। अपने आपका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान बनाये रहें कि यह मैं आत्मा तो इस संसार में, इस लोक में अकेला ही हूं यहां मेरा किसी पर पदार्थ से रंच भी सम्बन्ध नहीं है।

इस जीवन में तो सत्य बोलने वाले की प्रतिष्ठा है इस सत्य धर्म का अभ्युदय तो तभी होगा जब कि इन क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विकार भावों का परित्याग होवे। तभी तो सबसे पहिले चार बातें कही हैं। (१) उत्तम क्षमा। (२) उत्तम मार्दव। (३) उत्तम आर्जव। (४) उत्तम शौच। अब सत्य धर्म की बात कह रहे हैं। ये चारों बातें इन चार कषायों के (क्रोध, मान, माया लोभ) छोड़ने के लिए ही तो हैं। इन चारों कषायों के छोड़े बिना आत्मा में सत्य धर्म का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता इस निरपेक्ष ध्रुव आत्मस्वभाव को समझ कर उसी रुप में अपना वचन व्यवहार रखना इस निरपेक्ष ज्ञायक स्वभाव को उद्देश्य में लेकर ऐसे इस ध्रुव ज्ञायकस्वभावी पूर्ण सत्य की चर्चा करना, समझना, प्रतीति में लेना यही है उत्तम सत्य।

मूल बात यह है कि ज्ञानी पुरुष तो जहाँ तक बनता है मौन से रहता है और कभी कुछ बोलेगा तो तत्व सम्बन्धी बात ही बोलेगा। जितने भी वचन व्यवहार वह करेगा उनके प्रति उसको

सत्य प्रतीति रहती है। यह वचन व्यवहार करना मेरा धर्म नहीं है। धर्म तो है अन्तः निर्विकल्प परिणति। यह वचन व्यवहार रूप प्रवृत्ति धर्म नहीं। वचन व्यवहार की तो बात छोड़ो, जहां पर किसी प्रकार के विचार, विकल्प, तरंग उठे वह भी इस आत्मा का धर्म नहीं। आत्म स्वभाव में एकाग्रता से स्थित हो जाना वह है वास्तविक धर्म। यही है सत्य धर्म। पर इस उत्तम सत्य धर्म के अधिकारी पूर्णरूपेण मुनिजन ही हो सकते हैं। जिन्होंने इस सत्य महाव्रत को अंगीकार किया है ऐसे मुनिजन ही उत्तम आत्म स्वभाव की एकाग्रता रूप सत्य धर्म के पात्र हो सकते हैं पर उससे निम्न श्रेणी में रहकर तो सब प्रकार के वचन व्यवहार करने पड़ते हैं, पर वचन व्यवहार कैसा रहना चाहिए इस पर कुछ दृष्टिपात कीजिये।

लोग अपने धंधों के विषय में जो भी वचन व्यवहार करते हैं उसमें भी अभिप्राय विशुद्ध रहना ही चाहिए। अपना ऐसा वचन व्यवहार रहे जो स्वपर हितकारी हो। तो सत्य धर्म वह है जो कि सर्व प्राणिमात्र के लिए हितकारी रूप चर्या है। मूलतः सत्य वचन में अभिप्राय की मुख्यता है याने उस वचन में यह लक्षण घटित होना चाहिए कि वह वचन व्यवहार स्वपर का हित करने वाला हो। हितकारी वचन हों। मित अर्थात् परिमित वचन हों। और प्रिय वचन हों ये तीन बातें (हित, मित, प्रिय) जिन वचनों में न हों उन्हें सत्य वचन नहीं कह सकते। यदि कोई वचन सत्य कहा जा रहा है और वह दूसरे का हित करने वाला वचन नहीं है तो ऐसे वचन को असत्य वचन ही कहा गया है। जैसे कोई व्यक्ति हमसे किसी दूसरे के विषय में बुराई कर रहा हो और उस व्यक्ति ने उन बातों को सुन लिया जिसके विषय

में वुराई की जा रही थी, अव वुराई करने वाला व्यक्ति तो चला गया, वाद में वह व्यक्ति जिसके प्रति वुराई की जा रही थी, आया और हमसे पूछता है कि वताओ यह व्यक्ति हमारे विषय में क्या कह रहा था ? तो वहां पर सत्य वात को भी उसे वताना न चाहिए, क्योंकि उन वातों के वता देने में तो उसका दिल दुःख जायगा। हालांकि वे वचन यदि उसको सुना देते तो वह सत्य ही वात थी पर इसमें चूंकि स्वपर हितकारता का लक्षण घटित नहीं होता अतः यह भी असत्य ही माना जायगा। अगर किसी के विषय में वुराई की जा रही हो, वह हमसे आकर पूछे कि मेरे विषय में क्या वुराई वतला रहा था ? तो हमने कह दिया कि कुछ नहीं। तो यद्यपि वात तो असत्य कही, पर इसे असत्य न माना जायगा। क्योंकि यदि सत्य वोल दिया जाता तो उस जगह तो एक वड़ा अनर्थ हो जाने की सम्भावना थी। परस्पर में वैमनस्य वढ़ जाता। तो अपना वचन व्यवहर हित, मित, और प्रिय इन तीन गुणों से परिपूर्ण होना चहिए।

एक तो वचन व्यवहार करना ही न पड़े ऐसी भावना रखो, पर कदाचित करना पड़ता है वचन व्यवहार, तो वहां यह देखते रहना चाहिए कि उसमें ये तीनों गुण (हितमितता और प्रियता) पाये जा रहे हैं या नहीं। लोग तो अपना वचन व्यवहार कषाययुक्त होकर करते हैं, पर इस असावधानी का परिणाम यह होता है कि जगह जगह बिपदायें सहते रहते हैं। यदि अपना व्यवहार सत्यपूर्ण नहीं है, कषायों से मलीमस है तो वहां अपने किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती। न लौकिक सिद्धि प्राप्त होगी न पारलौकिक। देखिये—सत्य वचन से ही इस जीवन की शोभा है। यदि जीवन में सत्यता को अपना लिया तो समझो कि मैंने सर्वस्व पा लिया और यदि जीवन असत्यता से रंगा हुआ है तव तो

समझिये कि हममें और तिर्यन्चों में (पशु पक्षियों में) कोई अन्तर नहीं है। जैसे कोई पुरुष मकान तो बहुत अच्छा बनवा डाले और उसमें रहने वाला कोई न हो तो वह मकान तो ऊजड़ कहलाता है. ठीक इसी प्रकार यदि कोई धन दौलत आदिक से खूब सम्पन्न हो परन्तु उसमें सत्यता न हो तब तो वह जीवन ऊजड़ ही है।

इस जीवन की शोभा तो सत्य से है शास्त्रों में कहा है कि "सत्यं शिवं सुन्दरं", ये तीनों चीजें प्रत्येक चीज में होना चाहिए। चीज सत्य हो, शिव स्वरूप हो और सुन्दर हो। जैसे किसी की पत्नी सुन्दर रूपवान है, पर सत्यवती और शिवयुक्त नहीं है तो उसे कौन चाहेगा ? और कोई स्त्री सुन्दर भी है, आज्ञाकारिणी भी है और शिवरूप नहीं है तो ऐसी स्त्री को भी कौन चाहेगा ? और कदाचित पत्नी भले ही कुरुप हो, पर शील से रहती हो, आज्ञाकारिणी हो तो भी वह सुन्दर कही गई है। केवल यहां की इस बाहरी सुन्दरता में ही न पड़ जाना चाहिए। प्रत्येक वस्तु सत्य, शिव और सुन्दर इन तीनों ही गुणों से युक्त होना चाहिए। तो सत्यं शिवं सुन्दरं को प्राप्त हों यही है सत्यधर्म की शिक्षा।

यदि इस एक सत्यधर्म का ही प्रादुर्भाव इस जीवन में हो जाय तो समस्त मिथ्या अभिप्राय टल जायेंगे। जब तक मिथ्या अभिप्राय रहेगा तब तक मन, वचन, काय की समस्त क्रियायें असत्य होंगीं और यदि अभिप्राय ठीक है. शुद्ध निर्मल है तो मन, वचन, काय की समस्त क्रियायें ठीक होंगीं। देखिये कैसी लोगों की धारणा है कि मैं परका पालन पोषण करने वाला हूं। मैं न होता तो इनका काम ही न चल सकता था। तो यह कैसी मिथ्या बुद्धि है। यह सब असत्यता है जैसे कोई कुत्ता चलती हुई गाड़ी

के नीचे ग्रा जाय तो वह क्या भ्रान्ति मचाता है कि मैं गाड़ी चलाता हूं, और कदाचित गाड़ी रुक जाय तो उसे क्रोध ग्राता है कि यह गाड़ी क्यों रुक गई ? इसी प्रकार यहां लोगों का ऐसा मिथ्या श्रद्धान है कि मैं धन कमाता हूँ, मैं परिवार का पालन पोषण करता हूँ, मैं ग्रमुक संस्था का चलाने वाला हूँ आदि, ये सब मिथ्याबुद्धियाँ ही तो हैं। इनमें रहकर तो ग्रपना एक ग्रसत्य जीवन ही गुजारा जा रहा है। सत्य अभिप्राय यह है कि मैं सब कुछ ग्रपने ग्रापका ही कर सकता हूँ। किसी परका मैं कुछ भी नहीं कर सकता। इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धापूर्वक यदि हमारा जीवन व्यतीत होता है तो वह एक सत्य जीवन है।

सत्यता की परख हमें करना चाहिए शान्ति की कसौटी से। सर्वजीवों के प्रति हित की बुद्धि हो तो उस क्रिया में शान्ति बसी है। सर्व परका हित बसा है तो वह सत्य क्रिया हो सकती है, ग्रौर यदि यह लक्षण उसमें घटित न हो तो वह सत्य नहीं कहा जा सकता। देखिये—राजा वसु जिनके कि सत्य की बड़ी प्रसिद्धि थी, लेकिन ब्राह्मणी का पक्ष लेकर उन्हें नरक का पात्र बनना पड़ा। कहां तो सत्य की प्रसिद्धि ग्रौर कहां नरक का वास, यह किस कारण से ?—उसका मुख्य कारण था सिर्फ एक बार भूठ बोलना। एक बार ही भूठ बोल देने का यह फल है तब फिर जो लोग जीवन भर इस ग्रसत्यता का ही स्वागत करते हैं उनकी न जाने क्या गति होगी।

यहां तो बहुत से लोग व्यापार ग्रादिक कार्यों में ग्रसत्यता को ही ग्रपनाये हुए रहते हैं। ग्राज के युग में तो असत्यता का ही नाच सर्वत्र दिख रहा है। यही कारण है कि ग्राज का मानव नाना प्रकार की ग्राधिव्याधि ग्रौर उपाधियों का पात्र

वना हुआ है। हां कोई एक जमाना था जव कि सत्यता का आदर था। कभी किसी को यह शंका न रहती थी कि हमें कोई ठग लेगा या हमारे साथ वेईमानी का वर्ताव करेगा, पर आज का मानव तो छल कपट वेइमानी आदि कार्य करने में रंच भी भय नहीं करता है। पर जरा सोचिये तो सही कि इस असद्व्यवहार का फल क्या होगा ? अरे इसके फल में विकट कर्मबन्धन होगा नरक निगोद आदिक की विकट यातनायें सहनी होंगीं। तो कोई ऐसा श्रद्धान मत करें कि मेरे झूठ वोलने के कारण धन की प्राप्ति होती है। अरे ग्राहकों को जव यह विश्वास बना रहता है कि यह तो ईमानदार आदमी है, हमारे साथ बेईमानी न करेगा, यह सच्चा आदमी है तभी वे उससे लेनदेन का व्यवहार करते हैं। अगर उन्हें यह पता पड़ जाय कि यह तो झूठ व्यवहार करता है, बेईमानी करता है तो फिर उससे लेनदेन का व्यवहार नहीं करेंगे। तो वस्तुतः धन भी इस सत्यता के ही कारण आता है। तो यदि अपने इस जीवन में सुखी वनना है और आगे के लिए भी अपना भवितव्य सुधारना है तो सत्य को अपनाना होगा। यदि ऐसी बात न होती तो सत्य का नाम आता ही क्यों ? फिर तो असत्यता का ही व्यवहार करने का उपदेश होता। असत्य का व्यवहार करने से तो इस जीवन की भी बरवादी है और भविष्य के लिए भी वरबादी है। एक ऐसी घटना है कि एक सेठ सेठानी किसी नगर में रहते थे। उनको एक नौकर की आवश्यकता थी। सो एक पुरुष आया। वोला—सेठजी, हमें नौकरी चाहिए, कहीं बताओ। तो सेठ वोला—कि तुम क्या वेतन लोगे ?—अरे हमें कुछ न चाहिए, केवल रोटी कपड़ा और साल में एक बार झूठ बोलने को मिल जाना चाहिए। सेठ ने सोचा कि इतना सस्ता नौकर और कहां से मिल जायगा।

सो उसने अपने ही घर उसको नौकरी दे दी। अब वह सालभर तो बड़ी अच्छी तरह से रहा, ईमानदारी से काम करता रहा। जब साल पूरा होने में अन्तिम दिन था तो वह नौकर सेठ से बोला—कि कल हम एक बार झूठ बोलेंगे। उसकी इस बात पर सेठ सेठानी दोनों ने ही कुछ विशेष ध्यान न दिया। सबसे पहिले वह सेठानी से मिला और कहा—देखिये सेठानी जी सेठ जी तो वेश्यागामी हो गये हैं, वह रोज एक वेश्या के पास जाते हैं। तुम्हारी ओर उनका कुछ भी ध्यान नहीं है। तभी तो देखो तुम्हारे कोई संतान नहीं है। तो हम तुम्हें एक उपाय बताते हैं। उस उपाय को करलो ताकि वह वेश्या इनकी ओर कभी देखे ही नहीं।—बताइये उपाय—आप ऐसा करो कि जब सेठजी सो जावें तो अस्तुरे से इनके एक तरफ की मूंछ हजामत बना दो और एक तरफ खड़ी रहने दो, जब रात को यह उस शकल में वेश्या के पास जायेंगे तो वह उनके रूप को देखकर पहिचानेगी भी नहीं और घृणा भी कर लेगी। (देखो कुछ अस्तुरे इस तरह के भी आते हैं जिनसे सोते हुए में हजामत बना दी जाय और पता न पड़े) तो सेठानी से तो यह कह दिया और उधर सेठ से कहा कि सेठजी आपकी सेठानी तो बदचलन हो गयी है। वह तो एक जार से अपना व्यवहार रखती है। और उसने आज रात को आपके मारने का षड्यन्त्र रचा है। तो आज आप सावधानी से सोना, पास में तलवार रख लेना, वह मौके पर काम देगी। नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि आपको अपने प्राणों से हाथ धोना पड़े। अब क्या था, जब रात्रि हुई, सोने का समय हुआ तो उधर सेठ को निद्रा नहीं आ रही थी। कुछ अधजगे से ही पड़े हुए थे। उधर से अस्तुरा तथा जल लेकर सेठानी आयी, मूंछ बनाने का प्रयास किया तो इतने में ही सेठ की नींद खुल गयी, उसको

अपने नौकर की बात पर पूर्ण सत्यता मालूम पड़ी। तो तुरन्त ही सेठ ने सेठानी पर तलवार का प्रहार करने का संकल्प किया। ज्यों ही मारने वाला था त्यों ही उस नौकर ने तुरन्त आकर सेठ का हाथ पकड़ लिया—बोला यह क्या अन्याय कर रहे हो? अरे मैंने आपसे कहा था ना कि मैं साल में एक बार झूठ बोलूँगा तो मैंने झूठ बोलकर यह विडम्बना पैदा कर दिया है। अब मुझे अपना वेतन पूरा मिल चुका। तो देखिये केवल एक बार ही झूठ बोलने से कितनी बड़ी विडम्बना खड़ी हो गई। यदि वह नौकर सेठ का हाथ पकड़ न लेता तो सेठानी के प्राण का घात होता, सेठ को भी शूली का दण्ड मिलता तथा उस नौकर पर भी सब का अविश्वास हो गया और फिर उसे कहीं नौकरी नहीं मिली। वह भिखारी बन कर दर दर ठोकरें खाता रहा। तो अब एक बार झूठ बोलने का यह फल है तब फिर जीवन भर जो झूठ बोलने का अपना व्यवहार रखे तो न जाने उसका क्या हाल होगा अब इस असत्य के व्यवहार को खतम करें और सत्य का व्यवहार करके सुखी हों।

गृहस्थजनों के समस्त वचन व्यवहार असत्य कहे गये हैं, क्योंकि वे परमार्थभूत आत्मतत्व से सम्बन्धित वचनव्यवहार नहीं हैं। गृहस्थी में तो आजीवका सम्बन्धी बातें ही हैं, वहां परमार्थ सत्यका व्यवहार तो नहीं हो सकता। पर मोटे रूप में इस सत्यता को ही अंगीकार करें। देखिये—पुराण पुरुषों ने कैसी अपनी सत्यता को निभाया। अगर किसी को कोई अपना वचन दे दिया तो उसे निभाना अवश्य चाहिए। राजा दशरथ का दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने केकई को वचन दे दिया था, सो उन्होंने अपने प्रिय पुत्र श्रीराम को वनवास का आदेश देकर

भरत को राज्य देकर अपने वचन पूर्ण किये, इसी तरह से जब रावण सीता को हर ले गया तो रावण के भाई विभीषण ने रावण से कहा कि तूने अनुचित कार्य किया। तू उनकी सीता वापिस दे दे। जब रावण ने उसका कहना न माना तो कहा कि मैं असत्य का कभी साथ नहीं दे सकता, मैं तो सत्य का ही साथ दूंगा। सो देखिये—जब विभीषण श्रीराम से जा मिला तो श्रीराम ने भी उस प्रसंग में वह वचन दिया कि ऐ विभीषण मैं तुझे लंकेश बनाऊँगा। श्रीराम अपने इन वचनों को पूरा करने में प्रयत्नशील रहे। सो जिस समय लक्ष्मण को शक्ति लगी तो उस समय का सम्वाद है कि श्रीराम बहुत दुःखी हुए, तो उनके ही साथी ने समझाया कि हे श्रीराम आप दुःखी मत हों। हम लोग लक्ष्मण को लगी हुई शक्ति का निवारण करेंगे। तो श्रीराम क्या बोले—मुझे लक्ष्मण के शक्ति लग जाने का दुःख नहीं, सीता के हरे जाने का दुःख नहीं, पर दुःख इस बात का है कि मैं जो विभीषण को वचन दे चुका हूँ कि तुझे लंकेश बनाउँगा तो मेरे उन वचनों की पूर्ति कैसे हो, इस बात का दुःख है। तो देखिये—पुराण पुरुष ऐसे होते थे जो कि अपने वचनों के बड़े पक्के थे। वे सदा सत्य वचन व्यवहार को ही अंगीकार करते थे। असत्य वचन व्यवहार का तिरस्कार करते थे।

केवल पुराण पुरुषों की ही बात क्या कहूँ, यहाँ का ही अभी जल्दी का ही एक दृष्टान्त देखिये—अमेरिका में विलियमनोपिया नाम के एक प्रसिद्ध इतिहासकार हो गये हैं। उनके जीवन की एक घटना है कि एक दिन वह कहीं जा रहे थे। सो रास्ते में उन्हें एक लड़की रोती हुई दिखी। उस लड़की से उन्होंने पूछा—बेटी तुम क्यों रोती हो ? तो उसने कहा

कि मेरी माँ ने बाजार से यह मिट्टी का घड़ा मंगवाया था सो लिए जाते हुए रास्ते में फूट गया है, मुझे डर है कि मेरी मां मुझे मारेगी इसलिए मैं रो रही हूँ। कृपया आप इसे अगर जोड़ सकें तो जोड़ दीजिये। तो वह इतिहासकार विलियमनोपिया कहता है कि बेटी मैं इसे जोड़ तो नहीं सकता, पर तुम्हें पैसे दे दूं और और तुम दूसरा घड़ा खरीद लो यह हो सकता है। जब उस लड़की ने पैसे माँगे तो उस समय विलियम नोपिया के पास में एक भी पैसा न था, जेब खाली थी। तो बोले बेटी मैं आज तो तुम्हें पैसे नही दे सकता, हाँ कल यदि इसी स्थान पर इसी समय मुझे मिल जावो तो तुम्हें पैसे अवश्य दे दूंगा, अच्छी बात। तो दोनों ही अपने-अपने घर चले गये। अब क्या घटना घटी—सो सुनो- उस विलियमनोपिया के घर तार आया उसके किसी इष्ट मित्र का—मित्र ने लिखा कि कल के दिन हम अमुक ट्रेन से आ रहे हैं सो आप स्टेशन पर आकर ट्रेन में मिल लेना। अब देखिये वही समय था मित्र से ट्रेन में मिलने जाने का और वही समय था उस लड़की से मिलकर पैसे देने जाने का। क्या करे वह ? तो उसने अपना निर्णय यही किया कि मुझे अपना वचन निभाना चाहिए सो मित्र के लिए चिट्ठी लिखकर एक नौकर को उससे मिलने के लिए भेजा। चिट्ठी में लिख दिया कि मित्र मैं बहुत ही आवश्यक कार्य में फसा हूँ, आने का बिल्कुल अवकाश नहीं है, और खुद उस लड़की के पास पहुंचकर उसे पैसे देता है। तो देखिये किस तरह से उसने अपने दिये हुये वचन की रक्षा की। सत्य का ही तो यह पालन है। विवेकी पुरुष सदा सत्य का ही स्वागत करते हैं। चाहे तन, मन, धन, वचन सर्वस्व अर्पित करना पड़े पर वे अपने सत्यधर्म का पालन करने से नहीं चूकते।

सत्य धर्म का पालन करने का फल अनुपम होता है, इन

सम्वन्ध का एक और भी दृष्टान्त देखिये—कोई एक राजा का पुत्र था। उसे चोरी करने की आदत पड़ गई थी। तो उसकी बुरी लटो के कारण राजा ने उसे घर से निकाल दिया। उसका कहीं किसी मुनिराज से मिलन हो गया। तो मुनिराज से कहता है वह राजपुत्र कि महाराज मैंने अपने जीवन में बड़े पाप किये, चोरी की, जुवा खेला, शराव पी, मधुमांस सेवन किये, मुझे बड़ी वुरीं लटें पड़ गयीं हैं। ये मुझ से नहीं छूटतीं। सो कृपा करके आप मुझे कोई ऐसी वात वताओ कि जिससे हम सही मार्ग में लग सकें। मुनिराज वोले ठीक है वेटे, तुम आज से सत्य धर्म का पालन करो। झूठ न वोला करो।—वड़ी अच्छी वात। उस दिन से सत्य को ही अपनाया, पर चोरी करने की लट तो थी ही। सो एक वार गया राजा के यहाँ चोरी करने के लिए, सो जव महल के द्वार पर पहुंचा रात्रि के समय में तो पहरेदार ने रोक दिया, पूछा कि तुम कौन हो? कहाँ जा रहे हो? तो उसने सत्य वोल दिया कि मैं एक राजकुमार हूँ और राजा के महल में चोरी करने जा रहा हूँ। तो पहरेदार ने यह सोचकर कि अरे कहीं चोर लोग खुद थोड़े ही कहते कि हम चोरी करने जा रहे हैं। यह तो कोई राजा का ही रिश्तेदार मालूम होता है तो उस पहरेदार ने अन्दर जाने का आदेश दे दिया। तो राजाओं के यहां तो प्रायः ऐसा ही होता है कि रात को सोने के समय सव वस्त्राभूषण उतार कर रख दिये जाते हैं और दूसरे कपड़े पहिन लिए जाते हैं। तो वह राजपुत्र महल में जाकर क्या करता है कि राजसी वस्त्रों को पहिनता है, आभूषणों को पहिनता है और सारे वस्त्राभूषणों को वह लेकर महल से वाहर निकलता है। और पहरेदार से कहता है कि मेरे लिये कोई अच्छा सा घोड़ा घुड़साल से ले आओ। तो पहरेदार ने यह जानकर कि यह

तो राजा का ही कोई खास आदमी है, घुड़साल गया और अच्छा सा घोड़ा दे दिया, पर वह राजपुत्र कुछ थका हुआ सा था इसलिए अन्यत्र कहीं न जाकर उसी घुड़साल में सो गया। प्रातःकाल जब सभी की निद्रा खुली तो देखा कि सारे के सारे वास्त्राभूषण सब गायब। उनकी खोज होने लगी। परन्तु खोजते हुए वह राजकुमार मिल गया तो राजा ने उससे सारी घटना पूछी तो उसने सही-सही बात बता दी। आखिर राजा ने वहाँ यही निर्णय किया कि हे राजपुत्र तुम अब कहीं मत जाओ। तुम तो इस मेरी लड़की से विवाह करो ओर सुख पूर्वक अपना जीवन बिताओ। पर वह राजपुत्र बोला-कि जिस मुनिराज के कहने से मैंने सत्य धर्म को पाला है उन्हीं के पास जाकर मैं सुख पाऊंगा। आखिर उस मुनिराज के पास वह पहुंचा-बोला महाराज आपके आदेशानुसार एक इस सत्य धर्म का पालन मैंने किया तो उसका फल मुझे देखने को मिल गया और सारी घटना भी मुनिराज से कह सुनाई। और, उस राजपुत्र ने मुनिराज से पुनः निवेदन किया कि महाराज आप हमें और कुछ दीजिये ताकि मेरा कल्याण हो। मुनिराज बोले-बेटे मेरे पास और क्या है, अब मेरे जैसे हो वन जाओ तो तुम्हारा कल्याण है। लो वह राजपुत्र मुनि हो गया और अपना कल्याण कर गया। तो देखिये-सत्य धर्म का पालन करने का यह फल होता है। इस असत्य का व्यवहार तो मन वचन, काय से छोड़ना चाहिए। इस सत्य धर्म से वर्तमान में भी सुख मिलता है और भविष्य में भी। आगम में सत्य के सम्बन्ध में चार बातों का निरूपण किया है (१) सत्य महाव्रत (२) भाषासमिति (३) उत्तम सत्य धर्म और (४) वचनगुप्ति। इनका अन्तर इस प्रकार है कि जैसा पदार्थ है वैसा ही कहना, चाहे वह परिमित हो या अपरिमित, वह सब सत्य महाव्रत है। सत्य वचन को परिमित

ही बोलें अर्थात् हित, मित और प्रिय वचन बोलना भाषा समिति है। केवल आत्मविषयक वार्ता रहना सत्य धर्म है और वचन मात्र का गोपन करना वचनगुप्ति है। यह उत्तम सत्य धर्म का प्रकरण है, जिससे हमें यह जानना चाहिये कि यदि बोलना ही पड़े तो आत्मविषयक हित, मित प्रिय वचन बोलना ही योग्य है, अपना जीवन सत्यता का हो, व्यर्थ के असद्व्यवहारों से दूर रहें और वचन व्यवहार अपना ऐसा रखें कि जिससे दूसरों का व अपना हित हो, कल्याण हो। खुद का भी विकास हो और दूसरों का भी विकास हो ऐसा ही वचन व्यवहार होना चाहिए। असत्यता से तो अपना अहित ही है।

देखिये—पहली बात तो यह है कि हम आप आज मनुष्य-पर्याय में आये हुए हैं। सौभाग्य से आज इस पर्याय में आना हुआ। अभी तक न जाने कैसी-कैसी खोटी दुर्गतियों में पहिले रहना पड़ा और वहाँ के घोर दुःख सहने पड़े। एकेन्द्रिय दोन्द्रिय आदिक की अनेक योनियां ऐसी मिलीं होंगी कि हम आपको वहाँ अक्षरात्मक वचन व्यवहार की शक्ति ही प्राप्त नहीं हुई थी। आज तो इस ढंग का वचन व्यवहार किया जा सकता है कि जिसका कुछ कहना ही क्या ? न जाने कितने–कितने कलात्मक ढंगो से वचनव्यवहार कर सकते हैं। तो इन पाये हुए वचनों का सदुपयोग यही है कि हित मित प्रिय अपना वचन व्यवहार रहे। बुरे वचन, करकस वचन तो अपने को भी और दूसरों को भी पीड़ा पहुंचाने वाले होते हैं। देखिये–एक लकड़हारे का बड़ा प्रसिद्ध दृष्टान्त है। एक लकड़हारा जंगल में से लकड़ियाँ बीन कर ले जाया करता था। उन्हीं को बेंचकर यह अपने परिवार का पालन पोषण करता था और किसी तरह से गरीबी में अपना समय व्यतीत किया करता था। एक बार एक घटना घटी कि जब वह जंगल में लकड़ियाँ बीन

रहा था तो उसके निकट एक शेर आया। पहले तो लकड़हारा शेर को देखकर भयभीत हो गया, पर जब उसने पास में आकर अपने पैर का पंजा दिखाया तो लकड़हारे को उसमें लगा हुआ कांटा दिखा। उस काँटे की पीड़ा को वह शेर सहन नहीं कर पा रहा था। सो लकड़हारे ने उसके पैर में लगे हुए काँटे को निकाल दिया। शेर ने बड़ा आभार माना, और लकड़हारे से अपनी भाषा में बोला—ऐ लकड़हारे तुम रोज—रोज लकड़ियों का गट्ठा अपने सिर पर न ले जाकर मेरी पीठ पर लाद ले जाया करो। बड़ी अच्छी बात। अब क्या था? लकड़हारा उस शेर पर लकड़ियाँ लाद कर प्रति दिन अपने घर ले जाता था। सो लकड़हारा पहिले तो कोई १५-२० किलो लकड़ी ले जाता था, अब शेर पर वह डेढ़ दो मन लकड़ियाँ प्रतिदिन लाद ले जाता था उन लकड़ियों को बेच दिया करता था। पहिले तो कोई ८ आने की लकड़ियाँ बेच कर काम चलाया करता था। अब दो चार रुपये रोज का काम होने लगा। यों थोड़े ही दिनों में लकड़हारा मालोमाल हो गया। उसके पड़ोसियों ने एक दिन उससे पूछा कि भाई तुम इतनी जल्दी मालोमाल कैसे हो गये? तो उसके मुंह से निकल आया—अजी एक स्याल (गीदड़) मेरे हाथ लग गया है, उसकी वजह से मैं इतनी जल्दी मालोमाल हो गया हूँ। इस बात को घर के अन्दर बंधे हुए शेर ने सुन लिया। उन दुर्वचनों की चोट उस शेर के हृदय में बहुत बड़ी लगी। आखिर जब दूसरे दिन लकड़हारे ने जंगल में लकड़ियों का गट्ठा बांधा और शेर पर रखने को हुआ तो शेर बोला—ऐ लकड़हारे इस समय तो बस दो बातें हैं—या तो तुम इस कुल्हाडी का तेज प्रहार मेरे गर्दन पर मारो या मैं तुम्हें खा जाऊंगा। लकड़हारा डरा, कांपा और बोला—हे वनराज, आज हमसे ऐसी क्या भूल हो गई जिससे तुम इस तरह कह रहे हो?

तो शेर बोला बस अब कुछ नहीं कहा जाता, या तो मेरे गले में शीघ्र ही कुल्हाड़ी का तेज प्रहार कर दो नहीं तो मैं तुझे खा जाऊंगा। जब लकड़हारे ने अपने प्राणों का खतरा निश्चय रूप से जान लिया तो शेर के गर्दन में कुल्हाड़ी का तेज प्रहार किया। वह शेर मरता हुआ कह रहा था—ऐ लकड़हारे, तुम्हारी इस कुल्हाड़ी की पैनी धार ने मेरे हृदय में इतनी बड़ी चोट नहीं दी जितनी चोट तुम्हारे उन दुर्वचनों ने दी कि मेरे हाथ में एक स्याल पड़ गया है, इसी से मैं मालोमाल हो गया हूँ। तो देखिये—दुर्वचन बोलने का यह परिणाम हुआ करता है। अज्ञानीजन व्यर्थ ही खोटे वचन व्यवहार करके अपना भी जीवन दुःखमय बना डालते हैं और दूसरों के लिए भी वे दुःख के कारण बनते हैं।

यह दुर्वचन व्यवहार भी असत्य व्यवहार है। जीवन में जब तक सम्यग्ज्ञान न होगा तब तक सत्य व्यवहार बन ही नहीं सकता। इस सम्यग्ज्ञान के द्वारा ही हम आपका कल्याण हो सकता है। जो जीव मिथ्याज्ञान में रह कर अपने खोटे अभिप्रायों से भरा हुआ जीवन व्यतीत करते हैं उनका जीवन क्या जीवन है? उनका जीवन तो एक पशुवत् अविवेक से ही भरा हुआ असत्यता का जीवन है। जब तक अपने आपके सत्य स्वरूप की (निज स्वरूप की) आराधना नहीं की जाती तब तक तो उसे असत्य जीवन ही समझिये। सत्य जीवन से ही इस जीव का भला है। आगम में चार प्रकार का कहा हुआ असत्य वचन है, उसका त्याग करो। (१) जो विद्यमान अर्थ का निषेध करना सो प्रथम असत्य है जैसे कर्म भूमि के मनुष्य तिर्यन्च के अकाल मृत्यु नहीं होती आदि वचन बोलना। (२) फिर जो असद्भूत को प्रकट करना सो दूसरा असत्य है जैसे देवों के अकाल

मृत्यु कहना, देवों को माँस भक्षी कहना तथा (३) वस्तु के स्वरूप को अन्य विपरीत स्वरूप वाला कहना सो तीसरा असत्य है। और, (४) गर्हित वचन कहना चौथा असत्यवचन है। सावद्य, अप्रिय और निन्द्य वचन बोलना गर्हित वचन हैं। हमें चाहिए कि चार प्रकार की विकथाओं रूप वचन का त्याग करें। लोक व्यवहार में भी सत्य से ही काम चलता है। लोग बड़े-बड़े व्यापार उद्योग धंधे करते हैं तो वहाँ पर भी जब तक सत्यता है तभी तक ही वहाँ व्यापार सम्बन्धी आदान-प्रदान होता है। जहाँ एक बार भी असत्यता की पोल खुल गई वहाँ फिर व्यापार का आदान-प्रदान का काम बन्द हो जाता है। तो इस जीवन में भी सत्य का व्यवहार करने में ही अपनी भलाई है।

सत्य से सकल विद्याओं की सिद्धि है तथा कर्म निर्जरा है। सत्य वचन से इस भव और पर भव में जीव सुखी रहता है। जितनी भी हम आपकी धार्मिक क्रियायें हैं विधिविधान हैं वे सब तभी सफल समझिये जब कि उनमें सत्यता का व्यवहार किया जा रहा हो। इसी तरह से व्रत, तप, संयम तपश्चरण आदि में भी सत्यधर्म का पालन करें तभी जीवन की सफलता होगी। जो सत्य वचन है सो ही धर्म है। यह सत्यवचन व्यवहार इस भव में भी इस जीव को सुखी करने वाला है और इसका भविष्य भी उज्जवल बनाये रहने में कारण है। सब धर्मों में मुख्य धर्म है सत्य वचन व्यवहार। अस्तु लौकिक व परलौकिक सभी दुःखों से निवृत्त होने व सत्य सुख की प्राप्ति के लिए सत्य वचन ग्रहण करना योग्य है।

अपना व्यवहार दूसरों के प्रति सत्यता का हो, ईमानदारी का हो, किसी को दगा न दें, किसी के साथ छल न करें जैसे कि

एक कथानक आया है कि एक बार कोई पुरुष जब किसी जंगल के अन्दर पहुंचा तो उसे एक शेर दिखा। वह भय से कांप गया और भगा। तो शेर ने उसका पीछा किया। थोड़ी दूर जाकर वह पुरुष किसी वृक्षपर चढ़ गया। शेर उस पेड़ के नीचे आ गया। जब वह पुरुष पेड़ पर चढ़ गया तो वहां भी पेड़ पर एक रीछ बैठा हुआ था। अब उस पुरुष के भय का क्या कहना। ऊपर रीछ और नीचे शेर। अब वह शेर उस पुरुष का भक्षण करने के उद्देश्य से उस पेड़ के नीचे ही खड़ा रहा। जब रीछ ने भय से कांपते हुए उस पुरुष को देखा तो बोला—ऐ मनुष्य ! तू अब भय मत कर, तू मेरी शरण में आया है, तेरे साथ मैं दगा नहीं कर सकता। थोड़ी देर के बाद में उस रीछ को नींद आने लगी, तो वह शेर पुरुष से कहता है कि ऐ मनुष्य तू इस रीछ को नीचे ढकेल दे नहीं तो मेरे चले जाने पर यह तुझे खा जायगा। शेर की बात उस पुरुष को पसंद आ गई तो उसने उस रीछ को ऊपर से ढकेलने का प्रयास किया, पर इतने में ही उस रीछ की नींद खुल गई। अब थोड़ी देर में उस पुरुष को नींद आने लगी तो शेर बोला ऐ रीछ यह मनुष्य बड़ा दगाबाज होता है, देख अभी यह तुझे नीचे ढकेल रहा था, अब इसे तू नीचे ढकेल दे ताकि यह मेरा भोजन बने। तो वह रीछ क्या जवाब देता है कि ऐ वनराज यह मनुष्य चाहे मुझे दगा दे दे पर मैं इसे दगा नहीं दे सकता क्योंकि यह मेरी शरण में आया हुआ है। तो यहां शिक्षा लेने योग्य बात यह है कि हम जीवन में किसी को दगा न दें, किसी के साथ छल न करें। चाहे कोई दूसरा भले ही हमें दगा दे दे, पर हम दगा न दें।

✓अपना व्यवहार सत्यता पूर्ण रखें, ईमानदारी का अपना व्यवहार रहे, सत्य जीवन ही एक वास्तविक जीवन है। यह सत्य

ही इस भवरूपी गहन अंधकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान है। इस सत्य धर्म का प्रयोजन यही है कि खुद को भी शान्ति मिले और दूसरों को भी शान्ति मिले। एक कथा सत्य-घोस की प्रसिद्ध है। वह कहता था कि मैं सदा सत्य बोलता हूँ। इस बात की बड़ी प्रसिद्धि भी हो गई थी। उसनें एक जनेऊ पहिन लिया और उसमें एक छुरी लटका ली, और यह प्रतिज्ञा कर ली कि अगर मेरे मुख से कभी असत्य वचन निकल जायगा तो मैं अपनी जिह्वा काट लूंगा, लेकिन एक बार उसके जीवन में क्या घटना घटी कि एक बार किसी सेठ ने अपने चार कीमती रत्न उसके पास रख दिये और कहा कि मैं बाहर जा रहा हूँ। जब वहां से वापिस लौटूंगा तो ले लूंगा। सो वह उसके पास रत्न रखकर बाहर चला गया। उन कीमती रत्नों को अपने हाथ में आया जानकर सत्य घोष का चित्त चलित हो गया। सोचा कि अब इन्हें उस सेठ को मैं न दूंगा। जब वह सेठ बाहर से लौट कर घर आया तो अपने रत्न सत्यघोष से मांगे पर उसने न दिये। तो वह सेठ उन रत्नों को न मिलते जानकर पागल सा हो गया, उसकी सारी चेष्टायें उन्मत्त जैसी हो गई। वह गली गली में जब चाहे यही चिल्लाये कि सत्य घोष ने मेरे रत्न ले लिए। जब इस बात का पता राजा को पड़ा तो उसने उस सेठ को अपने महल में बुलाया और सारी बात मालूम की। तो राजा ने सही बात की जानकारी के लिए उपाय एक रचा। सत्य घोष को अपने महल में रानियों के संग जुवा खेलने के लिए बुलवाया। जब सत्य घोष राजा के महल पहुंचा तो वही जनेऊ और उसमें चाकू लटकी हुई थी। रानियों ने जुवा में उसके जनेऊ और चाकू जीत लिया और वे दोनों चीजें (जनेऊ और चाकू) रानियों ने दासी को दिया और कहा कि तुम इन दोनों चीजों को लेकर

सत्यघोप के घर जाओ और इन दोनों निशानियों को दिखाकर उसकी स्त्री से यह कहना कि सत्यघोप ने वे चारों रत्न मंगाये हैं जो कि सेठ जी ने रखे थे। दासी सेठ के घर गई उसकी स्त्री से वात कही स्त्री ने चारों रत्न निकाल कर दे दिये। जव दासी उन रत्नों को लेकर राजमहल में पहुंची तो सत्यघोप की सारी पोल पट्टी खुल गयी। अव राजा ने उस सेठ की भी परीक्षा की कि वे वास्तव में रत्न उसी के थे या नहीं। सो क्या किया कि वहुत से अन्य रत्नों में उन चारों रत्नों को मिला दिया और सेठ से उन चारों रत्नों को छाँटने को कहा। तो सेठ ने जो अपने चारों रत्न थे उन्हें छांट लिया। वस राजा ने सत्यघोप के लिए आदेश दिया कि सत्यघोप के लिए तीन दण्ड दिये जा रहे हैं उनमें से वह किसी भी एक दण्ड को भोगना स्वीकार करे। वे तीन दण्ड कौन से थे ? (१) मल्ल के द्वारा ३२ घूंसे सहे। (२) थाली भर गोवर खावे। (३) अपनी सारी सम्पत्ति छोड़े। अव इन तीनों दण्डों में से उसने मल्ल द्वारा ३२ घूंसे सहने स्वीकार किये, पर जव मल्ल ने पहला ही घूंसा लगाया तो वह टें वोल गया। वोला—वस हम इस दण्ड को स्वीकार नहीं करते। हमें तो थाली भर गोवर खाने का दण्ड दिया जाय। सो जव गोवर को खाने लगा तो एक दो कौर भी गोवर न चला, थाली भर गोवर की वात ही क्या। फिर उसने अपनी सारी सम्पत्ति दे देने का दण्ड स्वीकार किया। अव यहां देखना यह है कि केवल एक वार ही असत्य वोल देने से इतनी वड़ी विडम्वना अपने जीवन में खड़ी हो सकती है तव फिर जो लोग सारे जीवन भर असत्य सम्भापण करते रहते हैं, अपना असत्य वचन व्यवहार रखते हैं उनकी न जानें क्या दुर्दशा होगी। तो सत्य वचनों से ही इस जीवन की शोभा है और उसका महात्म्य है। कहा भी है कि—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जाके हिरदै सांच है, ताके हिरदै आप ॥

अपने अभिप्राय को विशुद्ध रखना सर्व प्रथम आवश्यक है। सत्य वचनों में अभिप्राय की ही कसौटी रहती है। अपना अभिप्राय स्वपर हितकारी होना चाहिये। एक दृष्टान्त है कि एक कोई पापात्मा पुरुष अपने हाथ में एक चिड़िया लेकर किसी मुनिराज के पास पहुंचा, मुनिराज से कहा कि आज मैं आपकी इस बात की परीक्षा करूँगा कि आप ज्ञानी हैं भी या नहीं। सत्य बोलते हैं या नहीं। सो उसने चिड़िया के गले में अंगूठा लगाकर कहा—बताओ यह चिड़िया जीवित है या मरी हुई ? तो मुनिराज ने सोचा कि यदि मैं कहता हूँ कि यह जीवित है सो यह झट अंगूठे से दाब कर मार देगा और इसे मरी हुई बताकर मेरा अपवाद करेगा। साथ ही इस चिड़िया की हत्या भी हो जायगी। सो यह जानते हुए भी कि जीवित है, यही कहा कि अरे यह तो मरी हुई चिड़िया लिए हो, बस उस पुरुष ने चिड़िया को अपने हाथ से छोड़ दिया, वह उड़ गयी, और कहा देखिये महाराज अब मैंने समझा कि आप कुछ नहीं जानते। अरे कहाँ तो जीवित चिड़िया हम अपने हाथ में लिए थे और आप उसे मरी बता रहे थे, आप कुछ नहीं जानते—पर यहाँ मुनिराज का आशय तो देखिये—अभिप्राय तो देखिये कितना निर्मल था। उस चिड़िया के प्रति कैसा करूणाभाव था। हालांकि उस जगह मुनिराज ने झूठ बोला, लेकिन झूठ बोलने पर भी वहाँ सत्य ही माना जायेगा झूठ नहीं, यद्यपि मुनिराज ने बाद में प्रायश्चित लिया यह बात अलग है, पर यहां देखना है कि इन वचनों की सत्यता और असत्यता अभिप्राय पर से ही परखी जाती है।

निज आत्मपदार्थ जैसा सत् है उसको वैसा ही जानना देखना यही उत्तम सत्य धर्म है। हमें आज यह निर्णय कर लेना चाहिए कि उत्तम सत्य क्या है। सो पर के आश्रय विना स्वयं सत्स्वरूप जो आत्मा का चैतन्य स्वभाव है अनादि अनन्त अहेतुक है, एक स्वरूप है, वही उत्ताम सत्य है। इसके अवलम्बन से ही सर्व सिद्धियां हैं। इस आत्म स्वभाव से अतिरिक्त जो भी वचन हैं वे सब असत्य हैं। इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर इन वचनों का सदुपयोग कर लेना चाहिए। सत्य के विना आत्म उन्नति नहीं की जा सकती, इसलिए सम्यग्दर्शन सहित हित मित, प्रिय वचन बोल कर सत्य धर्म को अंगीकार करें, सो ही कहा है–

कठिन वचन मत बोल, पर निन्दा अरु झूठ तज।
सांच जवाहर खोल, सतवादी जग में सुखी॥
उत्तम सत्य वरत पा लीजे, पर विश्वासघात नहिं कीजे।
सांचे झूठे मानस देखो, आपन पूत स्वपास न पेखो॥
पेखो तिहायत पुरुष सांचे, को दरव सब दीजिये।
मुनिराज श्रावक की प्रतिष्ठा, सांच गुण लख लीजिये॥
ऊंचे सिंहासन बैठ वसुनृप, धर्म का भूपति भया।
वसुझूठ सेती नर्क पहुंचा, स्वर्ग में नारद गया॥
(ॐ ह्रीं श्री सत्यधर्माङ्गाय नमः)

उत्तम संयम

आज संयम धर्म का दिन है। संयम शब्द दो शब्दों से मिल कर बना है–सम और यम, सम मायने सम्यक प्रकार से, यम

मायने यमन करना, दवा देना, सम्यक प्रकार से मार देना, किन को मार देना ? उन विभाव भावों को विकार भावों को, जो कि आत्म साधना में वाधक हुआ करते हैं, उनको भली प्रकार से नष्ट कर देना, इसका नाम है संयम। मूल में जो आत्मा का अविकार स्वभाव, ज्ञानस्वभाव है उसकी दृष्टि में ही संयत रहना सो उत्कृष्ट संयम है। यह संयम मुनिराजों के हुआ करता है। पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति को जिन्होंने अंगीकार किया है उन्हें इस चारित्र के द्वारा निरन्तर ही इस प्रयोजन की सिद्धि होती है, कि वे समस्त प्रकार के विषय कषाय के व्यापारों से पृथक होकर अपने निर्विकार ज्ञायक स्वभाव में नियत रहते हैं, इसी का नाम है उत्तम संयम।

यह उत्तम संयम धर्म उन जीवों को हुआ करता है जिनको अपने आपके यथार्थ स्वरूप का परिचय हुआ करता है। जब तक अपने आपके आत्मस्वरूप का परिचय न होगा तब तक आत्मस्वभाव में संयत ही कोई क्या रहा सकेगा ? तो सर्वप्रथम अपने आपके आतमस्वरूप का परिचय होना चाहिए। याने यह संयम मिथ्यादृष्टियों के नहीं हो सकता। बल्कि सम्यग्ज्ञानियों को ही हुआ करता है। व्यवहार में ५ महाव्रत धारण करना, ५ समितियों का धारण करना और तीन गुप्ति का धारण करना इसको संयम कहा गया है। जो आश्रव होते हैं उनका निरोध करना सो सम्वर है और यह संयम का ही एक अंग है। सम्वर का अर्थ होता है संयम के मार्ग में चलना। निर्विकल्प स्थिति में आना, अपने आप के चैतन्य स्वरूप स्वभाव की स्थिति में रहना इसका नाम है उत्तम संयम।

यह उत्तम संयम धर्म आगम में दो प्रकार का बताया गया है

(१) इन्द्रिय संयम जो ५ प्रकार की इन्द्रियाँ हैं और छठा मन है उनके विषयों से पृथक हो जाना याने इन पंचेन्द्रिय के विषयों में आशक्ति बुद्धि का हट जाना इसे कहते हैं इन्द्रियसंयम। एक एक इन्द्रिय विषय की बात देखो जिन इन्द्रिय सुखों में हम आशक्त हो रहे हैं, जिनसे अपने को सुखी मान रहे हैं उनमें वस्तुतः सुख कहाँ है ? वे तो दुःखरूप ही हैं। इन्द्रिय सुखों को भोगना यह इस जीव का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव है अपने आप में संयत रहना। अपने आपके वास्तविक आनन्दस्वरूप में बने रहना। इन पंचेन्द्रियों के विषयों में रचे पचे रहने का, उनमें सुख मानने का इस आत्मा में स्वभाव नहीं है। ये पंचेन्द्रिय के विषय तो वस्तुतः इस जीव की बरबादी के ही कारण बने रहे हैं। यदि इन पंचेन्द्रिय के विषयों में सार होता तो फिर ये चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि महापुरुष इन्हें छोड़कर निर्ग्रन्थतता को क्यों स्वीकार करते ?

अरे इन पंचेन्द्रिय के विषयों में क्या सार ढूँढ़ना ? इनमें पड़े हुए ये व्यामुग्ध आशक्त जीव तो कुत्ते की तरह हैं। जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है तो उसके मसूड़े फट जाते हैं, उनसे खून निकलने लगता है,उस खून को वह कुत्ता चाटता है तो देखो स्वाद तो लेता है वह अपने ही खून का मगर मानता है कि मुझे इस हड्डी का स्वाद आ रहा है। इसी प्रकार यह भोगभिलाषी जीव भोगों में आशक्त होकर स्वाद तो लेता है अपने ही विकृत ज्ञान का पर मानता है कि मुझे पर पदार्थों से सुख मिला है, इन विषय भोगों से सुख मिला है। अरे इन्द्रिय–विषयसुख तो असार हैं। ये इस जीव की बरबादी करने पर ही तुलें हुए हैं।

अब एक एक इन्द्रिय विषय में आशक्त होने वाले जीवों की बात देख लो। केवल स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत होकर हाथी

जैसा बलिष्ट जानवर भी शिकारियों के चंगुल में पड़ जाता है और वह हाथी नाना-प्रकार के छेदन भेदन आदिक रूप दुःखों को प्राप्त होता है । इसी प्रकार रसना इन्द्रिय के विषय की बात देखो मछली इस रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर ही तो अपने प्राण खो देती है । मछुवे लोग कुछ मांस पिण्ड तार में लगाकर जल में गेर देते हैं, सो मछली उसे निगल जाती है । तो फल क्या होता है कि वह तार मछली के कंठ में फंस जाता है और मछली अपने प्राण खो वैठती है । और भी देखिये घ्राँणइन्द्रिय के वशीभूत होकर यह भंवरा कैसे अपने प्राण गवां देता है कमल पुष्प के अन्दर भंवरा बन्द हो जाता है । देखो यह इतनी ताकत रखता है कि मोटे काठ को छेदकर बाहर निकल जाय ऐसा यह भंवरा गंध के लोभ में आकर कमल के कोमल पत्तों के अन्दर बन्द रह कर ही अपने प्राणों को खो वैठता है । चक्षुइन्द्रिय की बात देखो—ये पतिंगे दीपक की ज्योति में आ आ कर अपने प्राण गवाँ देते हैं । तथापि वे और भी दूसरे पतिंगों को मरता हुआ देखते रहते हैं फिर भी चक्षुइन्द्रिय के वशीभूत होकर वे प्राण खो देते हैं । अब कर्ण इन्द्रिय की बात देखिये—ये हिरण, ये सर्प राग रागनी के प्रेम में आकर शिकारियों के चंगुल में फंस जाते हैं और अपने प्राण खो बैठते हैं । तो जब एक—एक इन्द्रिय के वशीभूत हुए प्राणियों की ऐसी दशा है तो फिर जो पांचो इन्द्रियों के वशीभूत हो उनका तो कहना ही क्या है । तो हमें चाहिए कि इस पंचेन्द्रिय के विषयों से अत्यन्त दूर होकर अपने आपके ज्ञानानन्द स्वरूप प्रभु की शरण गहें । यही है अपना वास्तविक संयम ।

यह इन्द्रिय विषयों की जो बात कही है उसमें हम आप स्वयं

निरख लें कि किसी एक भी इन्द्रिय के विषय को भोग कर क्या किसी को तृप्ति हुई ? सभी को ऐसा अनुभव होगा कि इन इन्द्रिय विषयों में पड़ कर तो कुछ न कुछ अंशो में पछतावा ही हाथ लगेगा। हाँ यह बात अवश्य है कि जो अज्ञानीजन हैं उन्हें कम पछतावा होता है। और जो ज्ञानी जन हैं उन्हें अधिक पछतावा होता है। एक इस स्पर्शनइन्द्रिय का ही विषय सुख ले लो, इसमें किसी दूसरे के शरीर का स्पर्श कर लेने से, शरीर के कुछ संस्कार बना लेने से इस जीव को लाभ क्या मिलता है ? अरे शक्ति क्षीण होती, भाव स्वयं मलिन होते, अनेक परेशानियाँ स्वयं सामने खड़ीं हो जातीं, अन्त में पछतावा ही हाथ लगता। इसी प्रकार कोई मिष्ट सरस स्वादिष्ट भोजन खा लिया तो उससे भी लाभ क्या मिला, बल्कि रोग स्वयं अनेक प्रकार के पैदा हो जाते। आज इतनी अधिक मात्रा में अस्पतालों का खुलना, औषधियो का निर्माण होना इसका कारण असंयम ही तो है। आज का प्राणी भक्ष्य अभक्ष्य का कुछ भी विचार नहीं करता। जिह्वा इन्द्रिय का लम्पटी बना हुआ है, यही कारण है कि इसके शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो रहे हैं। उन रोगों का निवारण करने हेतु औषधियों का विस्तार बढ़ रहा है। तो अपने आचार विचार को बिगाड़ देना यही सारी परेशानियों का कारण बन रहा है। जिन्होंने अपने चारित्र को अच्छा नहीं बनाया, जो इन्द्रिय विषयोंमें आशक्तहो रहे उनका मनुष्य जीवन पाना न पाना बराबर है। ऐसे ही घ्रांणइन्द्रिय के विषय में देखिये—नाना प्रकार के तेल - फुलेल रखना, उनकी गंध में आशक्त होना इससे भी इस जीव को क्या लाभ मिलता है। चक्षुइन्द्रिय के विषय की तो बात ही क्या कहें, सनीमा वगैरह देखना, अश्लील चित्र देखना, रूपावलोकन करना आदि इनसे इस जीव को क्या लाभ मिलता है ? पहिली बात

तो यह है कि रूप को देखने के लिए यह लालायित रहा करता है वह रूप कोई पकड़ में आने वाली चीज नहीं है। व्यर्थ ही उनके प्रति अपने गंदे भाव बना कर अनेक प्रकार की कलुशित कल्पनायें वनाकर अपने जीवन को वरवाद कर डालते हैं, इसी प्रकार कर्ण इन्द्रिय की वात है। राग रागनी भरे गान तान सुन लिए कुछ कर्णों को सुहावने लगने वाले शव्द सुन लिए, कुछ अस्लील शव्द सुन लिये तो उससे भी इस जीव को लाभ क्या मिलता है? अरे वहाँ भी कपाय भाव चलता, आकुलता रहती और नाना प्रकार की व्याकुलतायें वनती हैं। तो ऐसा जानकर हमें इन्द्रियविजयी होना चाहिए और संयम को धारण करना चाहिए।

एक दृष्टांत है कि कोई एक राजा था, उसने अपने वल से पास पड़ोस के समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी इसलिए सभी लोग उसे सर्वजीत कहने लगे। सभी लोग तो उसे सर्वजीत कहें, पर उसकी मां उसे सर्वजीत नही कहती थी। तो एक दिन उस राजा ने अपनी मां से कहा कि मां, मुझे सभी लोग तो सर्वजीत कहते हैं, पर तुम क्यों नहीं कहती? तो मां वोली, वेटा— अभी तुम सर्वजीत नहीं हुये इसलिए मैं तुम्हें सर्वजीत नहीं कहती। —अरे मैंने तो समस्त राजाओं को जीत लिया है, वताओ कौन सा राजा अभी जीतने को वाकी है? तो मां वोली वेटा—तुमने सव राजाओं को तो जीत लिया है पर तुम्हारे ही अन्दर यह जो इन्द्रियविषयाभिलाषारूप शत्रु छिपा हुआ वैठा है इसको अभी तक नहीं जीत पाया। जब इसको भी तुम जीत लोगे तव मैं तुम्हें सर्वजीत कहूँगी। तो इन इन्द्रिय विषयों पर विजय करना यही सबसे बड़ी विजय है।

अब इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए क्या करना होगा इसकी बात कहते हैं। देखिये इन्द्रिय विषयों के भोग के प्रसंग में तीन बातें हुआ करती हैं। (१) द्रव्येन्द्रिय (२) भावेन्द्रिय (३) विषयभूत पदार्थ। तो द्रव्येन्द्रियां तो ये जड़ हैं, मूर्तिक हैं, पुद्गलरूप हैं, इन द्रव्येन्द्रियों से पृथक रहने का इस आत्मा का स्वभाव है। इसी प्रकार भावेन्द्रिय के विषय में सोचिये—ये भावेन्द्रिय तो खण्डज्ञान रूप हैं। जिस समय जो ज्ञान करना है उस समय केवल उसका ही ज्ञान इस भावेन्द्रिय द्वारा हो सकता है। अतः यह खण्डज्ञान है। आत्मा का स्वभाव तो अखण्ड ज्ञान है। तो इस प्रकार भावेन्द्रिय भी इस आत्मा का स्वरूप नही है। आत्मा है अखण्ड ज्ञान स्वभावी, अतः ये उपाधियां आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। अब आइये इन विषयभूत पदार्थों पर। ये दिखने वाले विषयभूत पदार्थ तो प्रत्यक्ष जड़ हैं, संग हैं, पुद्गलरूप हैं, और आत्मा तो निसंग, अमूर्त ज्ञानानन्द स्वभावी है। तो फिर उस आत्मा का इन पदार्थों से सम्बन्ध क्या ? तो इन्द्रिय-विजयी बनने के लिए इन तीनों प्रकार की (द्रव्येन्द्रियां भावेन्द्रियां और विषयभूत पदार्थ) बातों पर विजय प्राप्त करना होगा। बिना इन समस्त बातों पर पूर्णरुपेण विजय प्राप्त किये कोई जितेन्द्रिय नहीं बन सकता। भगवान जिनेन्द्र देव ने अपने दिव्य उपदेश में ऐसा बताया है कि इन्द्रियविजयी बनने के लिए सर्वप्रथम इन इन्द्रियों का और आत्मा के यथार्थ स्वरुप का परिचय करना होगा।

अब आइये इस मन के विषय पर। यह मन समस्त इन्द्रियों का राजा है। जितने भी पंचेन्द्रिय के सिवाय अतरंग के विषय बताये हैं वे सब मन के विषय हैं। किसी भी इन्द्रिय के विषय का वर्तन करना, अभिलाषायें करना, यह है मन इन्द्रिय का काम,

और इन अभिलाषाओं का त्याग करना यही है संयम। अगर कोई इन्द्रियों का वाह्य प्रवर्तन तो छोड़ दे और अंतरंग इन्द्रिय प्रवर्तन को न छोड़े तो यह संयम नहीं है। यह तो पाखण्ड है। उसने तो वस्तुतः अपनी आत्मा को ही ठगा है। वह कोई संयम नहीं है। अपना वास्तविक संयम है अपने आपकी अंतरंग इच्छाओं का (अभिलाषाओं का) अभाव करना, अपने अन्दर की अभिलाषाओं का त्याग करने के लिए अपने आपके अन्दर विराजमान उस शुद्ध अंतस्तत्व के दर्शन करने होंगे। उस आत्मतत्त्व का दर्शन होगा इन्द्रियविजयी बनने से। क्योंकि जब तक विषयभोगों की वान पड़ी रहेगी तब तक वहां विकल्पो से शान्ति कहाँ मिलेगी ? और वहां अपने आपके अन्दर विराजमान उस परमात्मा के दर्शन कहाँ से होंगे। तो परमात्मतत्व का दर्शन पाने के लिए निर्विकल्प स्थिति चाहिए। हम ऐसा संकल्प वनावें कि हमें तो कुछ नही स्पर्श करना है, कुछ नहीं आस्वादना है, कुछ नहीं सूंघना है रूपादिक का कुछ नहीं अवलोकन करना है। हमें नहीं किसी के राग रागनी के शब्द सुनना है हमें नहीं किसी प्रकार के मिथ्या संकल्प-विकल्प विचारों में पड़ना है। यों दृढ़ संकल्प करके एक आत्मस्वभाव के (निज परमात्मतत्व के) दर्शन करने का ही आग्रह कर लेवें तव कहीं उसके दर्शन कर सकेंगे। इस प्रकार निज परमात्मतत्व का दर्शन करना यही है वास्तविक संयम।

अब प्राणि संयम की वात देखिये—जो ६ प्रकार के काय हैं— पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इनको किसी प्रकार की वाधा न पहुंचाना, इनके दस प्राणों का घात न करना इसे कहते हैं प्राणि संयम। जिन्ही घर के दो चार मोही प्राणियों की रक्षा के पीछे अन्य दूसरे जीवों

का कुछ भी ख्याल न करना, वल्कि उनका अहित ही विचारना यह तो एक राक्षसपने का व्यवहार है। यह मनुष्यता का व्यवहार नहीं है। तो ऐसे कार्य करें जिनसे दूसरे जीवों को बाधा न पहुंचे तो इसे कहते हैं प्राणि संयम।

अब देखिये इस संयम की पात्रता कहां मिलती है? क्या नरकगति में संयम की पात्रता होगी? क्या तिर्यन्चगति में व देव गति में भी संयम की पात्रता होगी? अरे केवल एक मनुष्यभव ही ऐसा श्रेष्ठ भव है जहाँ संयम धारण कर सकते हैं। इस मन के द्वारा अपने श्रेष्ठ विचार वना सकते हैं। तो इस मनुष्यभव में ही ऐसी पात्रता है कि यहाँ संयम धारण कर सकें इसलिए तो देव भी इस मनुष्यत्व को पाने के लिए मनुष्यों के सामने हाथ पसारते हैं। देखिये—जब ऋषभदेव भगवान को संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य हुआ, तप के लिए उद्यमी हुए तो उस समय चारों प्रकार के देव-आते हैं उनका तपकल्याणक मनाने के लिए। वहाँ पर मनुष्य भी आये थे। तो देवों ने वड़ा उत्सव मनाया, पर जव उन्हें पालकी में ले जाने का समय आया तो यह प्रश्न खड़ा हो गया कि इस पालकी को उठाने का सर्वप्रथम अधिकारी कौन हैं? देव हैं या मनुष्य? देव कहते हैं कि पालकी उठाने के अधिकारी हम हैं क्यों-कि हमने ही गर्भ कल्याणक मनाया, हमने ही जन्म कल्याणक मनाया, अस्तु हम ही तप कल्याणक मनाने के अधिकारी हैं। उधर मनुष्य अपने पक्ष की बात रखते हुए कह रहे थे कि इस पालकी को उठाने के अधिकारी हम लोग हैं। जब दोनों में विवाद सा होने लगा तो आखिर अन्त में इसके निर्णय के लिए राजा नाभि-राय नियुक्त किये गये। सो राजा नाभिराय ने दोनों पक्षों की बातें सुनकर निर्णय दिया कि इस पालकी को उठाने का सर्वप्रथम

अधिकारी वही हो सकता है जो इन (प्रभु) जैसा संयम धारण कर सके। तो मनुष्यों को ही सर्वप्रथम पालकी उठाने का निर्णय दिया गया। अब उस समय वे इन्द्र, देवेन्द्र अपना माथा ठोककर और मनुष्यों के सामने अपनी झोली पसार कर भीख माँगते हैं कि हे! मनुष्यो तुम मेरा समस्त इन्द्रत्व ले लो पर हमें अपना यह मनुष्यत्व क्षण भर के लिए दे दो। तो ऐसे इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर इन विषयों की खाज खुजाने में ही व्यर्थ समय गवां देना यह तो कोई भली बात नहीं है। अरे इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर तो संयम धारण में ही (अपने चारित्र का निर्माण करने में ही) अपनी भलाई है। यदि इस मानव जीवन को पाकर संयम धारण न किया तो इसमें मनुष्य जीवन की सार्थकता न समझिये।

अपना वास्तविक संयम तो है अपने स्वरूप का आचरण करना और इस स्वरूप का आचरण करने के लिए बाह्य आचरण (व्यवहार चारित्र) किस प्रकार का होना चाहिए ? अपना विशुद्ध आचरण होना चाहिए। इस जीवन में यदि चारित्र है तो इससे ही जीवन की सफलता है और यदि विशुद्ध चारित्र नहीं है, अपना असदाचार का व्यवहार है तो फिर मनुष्य होना न होना बराबर है। अंग्रेजी में एक कवि ने कहा है कि 'If wealth is lost, nothing is lost. if health is lost, some thing is lost, if character is lost, every thing is lost'. अर्थात् यदि धन नष्ट हुआ तो कुछ नहीं नष्ट हुआ, स्वास्थ्य नष्ट हुआ, तो कुछ नष्ट हुआ, और यदि चारित्र नष्ट हो गया तो सब कुछ नष्ट हो गया। तो विशुद्ध चारित्रमय जीवन ही एक जीवन है। इसलिए हमें इस संयम को अंगीकार करके अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को सफल करना चाहिए। देखो पूजन में पढ़ते हैं ना कि–

इन्द्रिय के भोग मधुर विषसम लावण्यमयी कंचन काया।
यह सब कुछ जड़ की क्रीड़ा है, मैं अब तक जान नहीं पाया॥
मैं भूल स्वयं के वैभव को, परममता में अटकाया हूँ।
अब निर्मल सम्यक् नीर लिए, मिथ्यामल धोने आया हूँ॥

और भी पढ़ते हैं कि:—

भव वन में जी भर घूम चुका, कण कणको जी भर भर देखा।
मृगसम मृगतृष्णा के पीछे, मुझको न मिली सुख की रेखा॥

अब बतलाओ बोलते तो इस तरह है और विचार करते हैं इन पुद्गलों के ही भोगने का, उनका ही संचय करने का, इन्द्रिय-विषयों के सेवन का, तो क्या यह संयम पालन है ? अरे जो कुछ बोला है वैसा ही विशुद्ध आशय बने कि मेरा यह भववन में भटकना कब छूटे। इन्द्रियविषयों से परान्मुखता कब होवे।

अरे यहाँ का यह पौद्गलिक विषयभोगों का समागम तो जहरीले सर्प के विष से भी अधिक भयंकर है। यहाँ तो जहरीले सर्प ने अगर काट लिया तो एक बार ही मरण होता है, परन्तु इन्द्रियविषयों के चंगुल में यदि फँसे रहेंगे तो भव-भव में जन्म मरण के घोर संकट सहन करने पड़ेंगे। अतः हम आपको इन्द्रिय-विषयों से डरना चाहिए और संयम को अपने जीवन में धारण करना चाहिए। देखिये—यहाँ अनेक दृष्टान्त दिये गये, इनसे हमें यह शिक्षा लेना चाहिए कि इन इन्द्रियविषयों से कभी भी तृप्ति नहीं होती। जैसे बाजीगर (जादूगर) लोग कुछ छूमन्तर करके आपको लड्डू या कोई फल वगैरह बनाकर दिखा देते हैं अथवा कुछ रूपया पैसा बनाकर दिखाते हैं, तो कहीं उन चीजों का कुछ

उपयोग तो नहीं किया जा सकता। अथवा उनसे पेट तो नहीं भरा जा सकता। इसी प्रकार इन इन्द्रियविषयों में पड़कर आत्मा को शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

वस्तुतः तो आत्मा को शान्ति प्राप्त होगी इन समस्त प्रकार के इन्द्रियविषयों से हटकर अपने आपके स्वभाव में आने से। अथवा जैसे कोई व्यक्ति विदेश गया, वहाँ लाखों का धन कमा लिया, जब वहाँ से अपने घर के लिए वापिस लौटा तो घर पहुंचने को ही हुआ कि रास्ते में उसका सारा धन लुट गया, उससे कुछ लाभ न प्राप्त किया जा सका, इसी प्रकार इन्द्रियविषयों के ये सुख हैं। इनके पीछे अपना समय खोने से लाभ कुछ न लूटा जा सकेगा। तभी तो ज्ञानी पुरुषों ने इन्द्रियविषयों की अभिलाषा को त्याग कर अपने आत्म-स्वभाव की शरण ली। देखिये-जब भगवान नेमिनाथ ने बताया कि यह द्वारिकापुरी १२ वर्ष के बाद में भष्म हो जायगी तो उस समय कृष्णपुत्र प्रद्युम्न कहता है अपने पिता से व दादा बसुदेव से कि हम तो अब संयम धारण करेंगे, विरक्त होकर अपना कल्याण करेंगे, तो वे समझाते हैं कि अरे बेटा तुम पागल हो गये हो क्या ? अभी तुम्हारी विरक्त होने वाली उमर नहीं है। तो प्रद्युम्न कहता है कि तुम्हें अगर जगत का खम्भा बनकर रहना है तो रहो, हम तो विरक्त होंगे ही। फिर वह प्रद्युम्न अपनी स्त्री से यह कहने के लिए गया कि हम तो अब विरक्त हो रहे हैं, संयम का मार्ग अपनायेंगे। तो स्त्री कहने लगी कि अभी आपको विरक्ति जगी ही कहाँ है ? अरे यदि आप विरक्त होते तो हमसे कहने की क्या जरूरत थी ? आप तो विरक्त हों अथवा नहीं मैं तो यह चली। ऐसा कहकर तुरन्त विरक्त होकर उसने चल दिया। तो यहाँ किस के पीछे भटका जा रहा है ? यहाँ के इन पर सम्पर्कों को तोड़ो, यहाँ के इन वैषयिक इन्द्रियज

सुखों को छोड़ो तो अपने उस सहज आनन्द की (अतीन्द्रिय सुख की) प्राप्ति हो सकेगी।

जैसे एक दृष्टान्त आया है कि दो चींटियाँ थीं, उनमें से एक चींटी तो रहती थी शक्कर की दूकान में और एक चींटी रहती थी नमक की खान में। तो एक बार शक्कर की दूकान में रहने वाली चींटी नमक की खान के चींटी के पास गई, बोली वहिन तुम यहाँ क्यो रोज-रोज खारा खाना खाती हो ? हमारे साथ चलो जहाँ हम रोज-रोज बढ़िया स्वादिष्ट मीठा खाना खाते हैं। तुम भी वहाँ चलकर मीठा खाना खाओ। तो पहिले तो विश्वास ही न हुआ, पर बड़ी प्रेरणा करने पर उसने वहाँ जाना स्वीकार कर लिया। चली तो सही पर अपने को कलेवा के लिये नमक की डली अपनी चोंच में दबाकर चली। जब वहाँ पहुंची और कुछ शक्कर के दाने खाये तो सखी पूछती है क्यों बहिन तुम्हें बढ़िया मीठा स्वाद आया ना ?—न, मुझे तो कोई स्वाद नहीं आया, ज्यों का त्यों स्वाद है। अरे मुख में कोई चीज रखे तो नहीं हो ?–हाँ एक दिन का कलेवा रखे हैं।–अरे इस कलेवा को मुख से निकालकर अलग रख दे तब स्वाद ले, फिर देख मीठा स्वाद आता है कि नहीं। जब उस नमक की डली को मुख से निकालकर अलग रखा और शक्कर के दानों को चखा तो उसे एक अनुपम स्वाद मिला, तो इसी प्रकार ये संसारी प्राणी इस अपने उपयोग की चोंच में जब तक विषयभोग रूपी नमक की डली लिये रहेंगे तब तक इन्हें अपने अन्दर विराजमान अनन्त आनन्द-रस की प्राप्ति नहीं हो सकती। अरे इन्द्रिय विषयों में लम्पटी जीवों को तो गुरुजनों का धर्म उपदेश भी नहीं रुचता, इसलिए प्रत्येक काल्याणार्थी को सर्व-प्रथम इन इन्द्रिय विषय–कषायों रूपी नमक की डली को अपने

उपयोग रूपी चोंच से निकाल देना होगा तभी धर्मोपदेश रुचेगा और अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी।

विषयाशक्त जीवों की कैसी-२ दुर्दशायें होती हैं इस बात के स्पष्टीकरण के लिए एक प्रसिद्ध दृष्टांत देखिये—जिस समय बड़े वर्णी जी (क्षु० श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी) बनारस में पढ़ते थे तो उनसे एक दिन उनके ही किसी मित्र ने कहा कि चलो नाटक देखने चलें। तो वर्णी जी बोले कि हम तो नहीं जायेंगे, क्योंकि तुम तो दो रुपये की सीट पर बैठोगे और हम चार आने का टिकट लेकर कहाँ बैठेंगे ? तो मित्र ने कहा कि ऐसा न होगा। जहाँ हम बैठेंगे वहीं तुमको बिठालेंगे, तो बड़ा आग्रह करने पर वर्णी जी भी नाटक देखने गये। वहाँ क्या घटना घटी की स्टेज पर काम करने वाली कोई नर्तकी बड़ा अच्छा नृत्य कर रही थी। तो उस पर कोई एक विषयाशक्त दर्शक मोहित हो गया, और एक पर्चे पर अपनी ओर से कुछ लिखकर स्टेज पर उस नर्तकी को दे दिया। नर्तकी ने उसे पढ़कर पैरों से कुचल-कुचल कर बाहर फेंक दिया। तो उस पुरुष ने अपना अनादर समझकर अपने ही हाथों से अपनी ही चाकू द्वारा अपना आत्मघात कर लिया। तो देखिये—विषयाशक्त पुरुषों की यही दशा होती है। इन विषय सुखों के पीछे लोग आत्मघात तक कर डालते हैं। अतः इन इन्द्रिय-विषयों की आशक्ति से अपना मुख मोड़ें और अपने आपके निर्विकार, निर्विषय आत्मतत्व के दर्शन करके सहज संयम धर्म को पालें, और अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को सफल करें।

इस जीवन में यदि अपने को अच्छा बनना है तो जीवन में संयम का प्रादुर्भाव होना चाहिए इन वासनाओं रूपी घोड़े को

शान्त करने के लिए संयम रूपी लगाम की आवश्यकता है, नहीं तो ये उच्छृखल वासनाओं के घोड़े इस जीव को महागर्त में पटक देंगे। इन विषयों की उधेड़ बुन में रहकर विषयों की खाज का खुजैला वनकर अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ में गवाँ देना कोई बुद्धिमानी नहीं है। अतः इन विषयों की प्रवृति से हटकर अपने आपके ज्ञान प्रकाश में आयें, इस विषयों के खुजैले भोले प्राणी का शान्ति नगर में प्रवेश तभी हो सकता है जव इसकी यह विषयों की खाज मिटे, नहीं तो यह विषयों की खाज इसे संसार का परिभ्रमण ही कराती रहेगी।

आत्मानुशासन में एक जगह एक दृष्टान्त आया है कि कोई पुरुष तृषा से अत्यन्त पीड़ित था। उसे कहीं जल नहीं मिल रहा था। तो अपनी प्यास वुझाने के लिए वह कुंवा खोदने को उद्यमी हो गया। जव खोदते-खोदते काफी गहराई पर पहुंच गया तो नीचे पत्थर की शिला पड़ गई। अव क्या करे वेचारा ? वड़ा परेशान हुआ। जैसे तैसे वड़ा श्रम करके उस शिला को भी खतम कर दिया तो नीचे जाकर कुछ पानी दिखा, पर वह भी कैसा ? महा गंदा और कीड़ों से भरा हुआ खारा। अव वह उस पानी को पी भी न पाया कि शीघ्र ही सूख गया। वह वेचारा वड़ा श्रम करके भी अपनी तृषा को न वुझा सका। ठीक ऐसी ही हालत तो इन विषयसुखों की है। विषयों का यह अभिलाषी जीव वासना की वेदना से पीड़ित होकर विषय भोगों के साधन जुटाता है। प्रथम तो उन साधनों के जुटाने में वह वड़ा हैरान हो जाता है। जव किसी तरह से वे भोग साधन जुटे तो वीच में कोई न कोई समस्या आकर खड़ी हो जाती है जिससे यह उन वैषयिक सुखों को भोग नहीं पाता, और श्रम करते-२ जव सिथिल हो जाता है (वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है) तो वहाँ भी उन भोगों को

भोगने की असमर्थता हो जाती है। यों यह विषयों का अभिलाषी प्राणी उनके ही पीछे हैरान होकर अपना जीवन समाप्त कर देता है। तो ऐसे दृष्टान्तों को सुनकर हम आप इन इन्द्रिय सुखों से विराम लें, इस संयमधर्म को अंगीकार करें, इसी में जीवन की शोभा है।

एक स्त्री अपने पति, सास, ससुर आदि सबकी बड़ी आज्ञाकारिणी थी। उसके मन में यह रहा करता था कि हम ऐसे उपाय करें कि घर के सभी लोग धर्म साधन में रहें ताकि जीवन सफल हो। तो वह तो थी धार्मिक प्रकृति की, पर उसका पति था भौतिकवादी। वह धर्म कार्य को ढोंग ढकोसला समझता था। अपने पति से वह स्त्री रोज-रोज कहा करती थी कि देखो अपने जीवन की सफलता के लिए धर्म—पालन के कार्यों में चित्त दो। वह पुरुष यही उत्तर देता था कि अभी तो बहुत दिन पड़े हैं, आगे चल कर धर्म पालन में लगेंगे। तो एक बार क्या हुआ कि उस स्त्री का वह पति बीमार हो गया, डाक्टर की दवा चालू हो गई। डाक्टर ने दवा पीने को उसके लिए दिया। तो दवा पीने का समय होने पर वह पुरुष अपनी स्त्री से कहता है कि लाओ जल्दी दवा, देर क्यों कर रही हो? तो स्त्री कहती है कि अभी कुछ देर में दे देंगे, ऐसी जल्दी क्या पड़ी है दवा पीने की? अभी तो बहुत दिन बाकी हैं। तो पति बोला—तो क्या जब मर जायेंगे तब दवा दोगी? तो वह स्त्री बोली कि ठीक वही बात तो तुम्हारे लिए हमारी है। हम कहते हैं कि इस जीवन का कोई भरोसा नहीं, धर्म पालन में लग जाओ, तो तुम कहते हो कि ऐसी जल्दी क्या पड़ी है, आगे चलकर धर्म पाल लेंगे। अरे तुम तो अभी से धर्मपालन करने में अपना चित्त दो। आगे पालने की बात न विचारो। अस्तु ऐसा जानकर कि इस जीवन का कोई भरोसा

नहीं है, शीघ्र ही विषय भोगों से अपना चित्त हटाना चाहिए क्योंकि इनकी आशक्ति का फल जीवन की बरबादी ही है। इससे इसको छोड़ें और संयम धर्म को अंगीकार करें।

अरे इन देहों में क्या सार ढूंढा जा रहा है? जरा इस विषय में भी थोड़ा विचार करो। यह शरीर तो मलमूत्र, खून, मज्जा, हड्डी, पीप, नाक, थूक, कफ, खकार, चाम आदिक समस्त अपवित्र चीजों से निर्मित है। इसमें क्या सार रखा है? ऐसे इन महा-अपवित्र देहों में क्या रमना? इनके भोगों में पड़कर अपने जीवन को क्यों बरबाद करना? अरे इन शारीरिक इन्द्रिय, वैषयिक सुखों में रति न करें, इनसे पृथक् होकर अपने आपके आत्मस्वभाव की ओर झुकें, इससे ही अपना वास्तविक संयम धर्म प्रकट होता है। बाह्य में अपना उपयोग लगाने से संयम धर्म की प्रकटता न होकर विराधना होती है। जिन जीवों ने बाह्य पदार्थों के पीछे ही अपने जीवन को गंवा दिया उनका तो जीवन ही विफल है।

एक कवि ने कहा कि कोई एक विषयाशक्त पुरुष एक जंगल में मर गया। तो उस मुर्दे को खाने के लिये एक श्रगाल आया, एक कुत्ता भी वहां पर था। वह श्रगाल जैसे ही मुर्दा के पैर खाने को हुआ तो कुत्ता बोला—ऐ श्रगाल, तू इस मनुष्य के पैरों को मत खा। ये तेरे खाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इन पैरों ने कभी तीर्थ यात्रा नहीं की, धर्मार्थ अपने कदम नहीं बढ़ाये। ये कभी सत्संगति में नहीं गये, इसलिये ये तो महा अपवित्र हैं, सो तू इन पैरों को मत छू। जब श्रगाल हाथ खाने को तत्पर हुआ तो कुत्ता बोला ऐ श्रगाल तू इन हाथों को भी मत खा, ये तेरे खाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इन हाथों ने कभी दान नहीं दिया, परोपकार

नहीं किया। श्रगाल पेट खाने को उद्यत हुआ तो फिर कुत्ता बोला—रे श्रगाल यह पेट तो अत्यन्त अपवित्र है। इसकी ओर तू देख भी मत, क्योंकि इसने सदा अन्याय, अनीति, अत्याचार आदि करके अपना पेट भरा है। जब श्रगाल मस्तिष्क को खाने को उद्यत हुआ तो फिर कुत्ता बोला—रे श्रगाल, यह मस्तिष्क भी तेरे खाने योग्य नहीं इसको तू मत छू। इस मस्तिष्क ने कभी दूसरों का भला नहीं विचारा, कभी अपना धार्मिक प्रोग्राम नहीं बनाया, सदा दूसरों का अनर्थ करने योग्य विकल्प ही मचाता रहा। तो इस दृष्टान्त द्वारा यह शिक्षा लें कि ये इन्द्रियां मिली हैं सौभाग्य से तो इनको पाने की सार्थकता तो इसमें है कि इनका सदुपयोग करलें, न कि दुरुपयोग। स्पर्शन इन्द्रिय का लम्पटी बन जाना यही तो इस स्पर्शन इन्द्रिय का दुरुपयोग है। इसी प्रकार रसना इन्द्रिय के वशीभूत होना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र आदिक समस्त इन्द्रियों के वशीभूत हो कर अपने जीवन को खो देना यही तो इन इन्द्रियों का दुरुपयोग है। इससे तो इस जीव की बरबादी ही है।

यदि जीवन में संयम नहीं है तो फिर इस जीवन की शोभा ही क्या है। जिन जीवों का जीवन असंयम ही असंयम में व्यतीत हो रहा है उसने इस मनुष्य जन्म को पाने का क्या लाभ लिया तथा आगे उनकी क्या गति होगी सो कुछ कहा नहीं जा सकता। एक दृष्टान्त है कि कोई एक राजा था, उसके बगीचे में बड़े सुन्दर सुगन्धित फूल भी हुआ करते थे। राजा का नौकर सुगंधित पुष्प से सजी हुई सेज राजा के लिए प्रतिदिन लगाया करता था। बड़ा कोमल सेज था। जब बहुत दिन उस सेज को सजाते हुए हो गए, तो एक दिन उस नौकर के मन में आया कि इस सेज पर लेटने से

कितना आराम मिलता होगा कुछ पता नहीं, सोचा कि हमें बीसों वर्ष हो गये इस सेज को लगाते हुए, पर यह अनुभव नहीं किया कि इस सेज पर सोने से कितना सुख मिलता होगा। सो राजा की अनुपस्थिति में एक दिन मौका पाकर उस सुख का अनुभव करना चाहता था, लेटा, दो ही मिनट में निद्रा या गई, सो गया। अब राजा के आने का समय हुआ, आया तो अपने नौकर को उस सेज पर सोता हुआ पाया। बड़ा क्रोधित हुआ, नौकर को जगाया और वैंतों से बड़ी पिटाई की। तो ज्यों ज्यों ही राजा उसे मारता जाता था त्यों त्यों ही उसका हंसना बढ़ता जाता था। खूब हंस रहा था। तो राजा ने पूछा-अरे तू पिटने पर भी हंसता क्यों है ? तो नौकर बोला—महाराज मैं इस लिए हंस रहा हूँ कि मैं इस सेज पर १०—५ मिनट को लेट गया तब तो मैं इतना पिटा, और आपकी जिन्दगी बीत गई इस सेज पर लेटते हुए, तो न जाने आपको कितना पिटना पड़ेगा। तो इसी तरह इन इन्द्रिय विषयों का समागम समझिये—जितना जितना इन इन्द्रिय विषयों के समागमों में हमारा रहना बना रहेगा उतना ही अधिक हमें पिटना पड़ेगा। तो इन इन्द्रिय विषयों को त्याग कर सत्य संयम धर्म को धारण करें, यही सारभूत बात है।

आज सौभाग्य से हम आपको सभी चीजें अच्छी मिली हुई हैं, शरीर भी समर्थ है, निरोग है, इन्द्रियाँ भी परिपूर्ण हैं, सारे साधन भी अच्छे मिले हुए हैं। ऐसे उत्तम अवसर में अपने कल्याण का काम कर जावें तब तो यह सब चीजें पाना सार्थक है, अन्यथा तो बाद में पछतावा ही हाथ लगेगा। एक किम्वदंती है कि एक बार ब्रह्मा ने चार जीव बनाये—कुत्ता, गधा, मनुष्य और उल्लू। तो सबसे पहिले कुत्ते को बुलाकर कहा—जावो तुम्हें पैदा किया—

महाराज काम क्या होगा ?–अरे दूसरों की सेवा में, दासता में रहना, और जो भी कौर (रोटी के टुकड़े) मिल जावें उन्हें खाकर संतुष्ट रहना।–अरे महाराज यह तो बड़ा बुरा जीवन है। उम्र कितनी होगी ?–४० वर्ष।–महाराज उम्र तो अधिक दे दी, सो कुछ कम कर दो,।–अच्छा चलो २० वर्ष ही रख दिया। २० वर्ष काटकर अपनी तिजोरी में रख ली। अब गधे को बुलाकर कहा–जाओ तुम्हें पैदा किया।–महाराज काम क्या होगा–अरे दूसरों का बोझा ढोना और रूखा सूखा जो भी मिल जाये, खाकर संतुष्ट रहना।–महाराज काम तो बड़ा बुरा दिया। उम्र कितनी होगी ?–४० वर्ष।–महाराज उम्र तो बहुत अधिक दे दी, कुछ तो कम कर दो।–अच्छा २० वर्ष ही कर दी। २० वर्ष काट कर तिजोरी में रख ली। उल्लू को बुलाकर कहा-जाओ तुम्ह पैदा किया।–महाराज काम क्या होगा ?–अरे अंधे बने बैठे रहना, और कभी कुछ खाने को मिल जाये तो खा लेना।–महाराज काम तो बड़ा बुरा दिया। उम्र कितनी है ?–४० वर्ष।–महाराज उम्र कुछ कम कर दो।–अच्छा चलो २० वर्ष ही रखो। २० वर्ष काट कर तिजोरी में रख ली। अब आया मनुष्य का नम्बर, सो मनुष्य से कहा–जाओ तुम्हें पैदा किया।–महाराज काम क्या होगा ?–अरे मनचाहे मौज करना, खेलना, शादी करना, बच्चे पैदा करना, सब पर शासन करना सुख चैन से रहना।—महाराज उम्र क्या होगी ? ४० वर्ष।—उम्र तो बहुत कम है, कुछ और बढ़ा दीजिये। तिजोरी में रखी हुई आयु (याने ६० वर्ष आयु) और भी दे दिया। तो मनुष्य को १०० वर्ष की आयु मिल गई। अब देखिये मनुष्य की जो ४० वर्ष की आयु थी वह तो ईमानदारी की आयु है। सो इस मनुष्य का ४० वर्ष का जीवन तो बड़ी अच्छी तरह से

बीतता है। उसके बाद २० वर्ष की उधार ली हुई गधे वाली आयु आती है, सो जैसे गधा दूसरों की दासता करके जो भी रूखा सूखा मिल जाता वह खाकर संतुष्ट रहता, यत्र तत्र बोझा ढोता फिरता, ठीक यही हाल मनुष्य का रहता है। इधर उधर की दौड़ धूप करना, दूसरो की ही सेवा में लगे रहना और समय वे समय जो भी जल्दी जल्दी में खाने को मिल गया सो खा लिया, फिर भगे। इस तरह से ६० वर्ष तक का जीवन जाता है, इसके बाद ६० वर्ष से लेकर ८० वर्ष तक रही कुत्ते की आयु, तो देख लीजिये– कुत्ता जैसे घर की रखवाली करता रहता है और मालिक जो कुछ दे दे वह खा लेता है ऐसे ही यह मनुष्य भी इस उमर में खाट पर पड़ा हुआ घर की रखवाली करता है, दूसरों के द्वारा अनेक प्रकार के वचनों की मार भी सहता रहता है और खाने पीने को भी मौंके बेमौंके जो कुछ रूखा सूखा मिल जाता है वह खाकर सन्तुष्ट रहता है। इसके बाद आ गई उल्लू की आयु (याने ८० वर्ष से लेकर १०० वर्ष तक की आयु) सो देख लीजिये- जैसे उल्लू अंधा पड़ा रहता है, उसे कुछ दिखता नहीं है। कभी कुछ खाने को पा गया तो खाकर सन्तुष्ट रहता है, ठीक इसी प्रकार यह मनुष्य इस उम्र में पूर्ण वृद्ध हो जाता है। शरीर के समस्त आंगोपाँग शिथिल हो जाते हैं। चल फिर भी नही सकता खाट पर पड़ा रहता है। नेत्रों से भी नहीं दीखता, कभी कुछ खाने को घर वालों ने पूछ लिया तो जो भी मिल गया वह खाकर संतुष्ट रहता है, और अन्त में मरण को प्राप्त हो जाता है। तो इस दृष्टान्त से अपने लिए यहां यह परखना है कि ऐसे दुर्लभ मानव जीवन को विषयों में पड़कर क्यों व्यर्थ गवाया जा रहा है अरे ? आज अपन को सब चीज ठीक ठीक मिली हुई हैं, सब प्रकार से समर्थ हैं ऐसी समर्थता पाकर इस उत्तम संयम धर्म को

धारण करना चाहिए, नहीं तो अन्त में पछतावा ही हाथ लगेगा। तब ही तो दौलतराम जी ने छहढाला में कहा है किः–

बालपन में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी रत रह्यो।
अर्द्ध मृतकसम बूढ़ा पनो, कैसे रूप लखै आपनो ॥

इसी को वर्णी जी (क्षु० श्री गणेशप्रसाद जी) इस तरह से कहा करते थेः—

बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी रत रह्यो।
अर्द्ध मृतकसम बूढ़ा पनो, अब तो रूप लखौ आपनो ॥

संयम के धारण करने से समस्त लोक में यह जीव बंदने योग्य होता है। पापों से लिप्त नहीं होता। सम्यग्दर्शन की पुष्टि इस संयम होने पर होती है तथा इह लोक और परलोक में अचिन्त्य महिमा प्रकट होती है। संसार रूप विषय बैरी का नाश संयम धारण करने से ही होता है। संयम बिना जीवन निष्फल है। अस्तु संयम बिना मनुष्य जीवन की एक घड़ी भी मत जाओ। मनुष्य गति में ही संयम की पात्रता है। अस्तु संयम को पाकर बिगाड़ना महा मूढ़ता है। संयम ही आत्मा का हित है। इस भव और परभव में शरण है। जैसा कि पूजन में पढ़ते हैं।

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्रियमन वश करो।
संयम रतन सम्हाल, विषय चोर बहु फिरत हैं ॥
उत्तम संयम गहु मन मेरे, भव भव के भाजें अघ तेरे।
सुरग नरक पशुगति में नांहीं, आलस हरण करन सुख ठांही ॥
ठाहीं प्रथी जल आग मारुत, रूख त्रस करूणा धरो।
सपरसन रसना घ्राण नैना, कान मन सब वश करो ॥

जिस विना नहिं जिनराज सीझे, तू रुलो जगकीच में ।
इक घरी मत विसरो करो नित, आयु यम मुखवीच में ।।

(ॐ ह्रीं श्री उत्तम संयमधर्माङ्गाय नमः)

उत्तम तप

आज तप धर्म का दिन है। तप का नाम सुनकर ही लोगों को भय सा होता है। अरे शरीर को सुखा डालना, शरीर को कष्ट देना, इसमें क्या बुद्धिमानी है ? ऐसी कुछ आशंका सी लोगों को हुआ करती है, पर वास्तविक विधि में यदि हम तप को समझें तो यह वात विदित होगी कि तप से क्लेश नहीं होता, वल्कि आनन्द, शान्ति और उल्लास प्राप्त होता है। वात यह है कि तप में दो प्रकार की क्रियायें हुआ करती हैं। (१) आन्तरिक क्रिया, (२) बहिरंग क्रिया। आन्तरिक किया कहते हैं अपने उपयोग को, चैतन्य स्वरूप के प्रति झुकाने कों। विकल्प विचार इच्छा आदि अंतरंग मलीमसताओं को खतम करना सो अंतरंग क्रिया है। अपने आपके सत्यस्वरूप में स्थित हो जाना इसका नाम है उत्तम तप धर्म। जहां इस आन्तरिक क्रिया पर दृष्टि होगी वहां क्लेश नहीं हो सकता। वहां तो आनन्द ही बर्तेगा। लेकिन हम आप तो केवल बाह्य क्रियाओं पर ही ध्यान दिये हैं इसलिए यह शंका हो जाती है कि इतने कठिन तपश्चरण कैसे करते हैं ? उनको इससे क्या लाभ होता है ? शरीर को सुखाना इसमें तो कष्ट ही होता है। तो उसमें इन बाहरी क्रियाओं पर ही ध्यान रखा।

जब यह उपयोग अपने आपके चैतन्यस्वरूप में प्रतपन करता है, अपने विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी निज आत्मतत्व में ही उपयुक्त होता है तो यही उत्तम तप है।

ऐसे तपको अंगीकार करके जीवन में विशुद्धता आती है। समस्त प्रकार की कलुषतायें मिटती हैं। तो अपने उस विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव में स्थिर होना, लीन होना, चैतन्यस्वरूप में प्रतपन करना, इसी का नाम उत्तम तप है। यह तप उन योगियों के होता है जिन्होंने समस्त प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर जीवन में तप को ही अंगीकार करके भली प्रकार कलुषताओं का दमन करके निर्विकल्प रूप स्थिति को पाया है। जो सुख दुःख में, कंचन कामिनी में, शत्रु मित्र में, निन्दा प्रशंसा में समता परिणाम को धारण करते हैं उन योगियों को किस बल पर यह तप होता है उस पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। जिन ज्ञानी पुरुषों ने इस पर्याय से विविक्त अपने आपके चैतन्य स्वरूप मात्र में अपने उपयोग को लगाया है उनके लिए शत्रु मित्र, प्रशंसा निन्दा, सम्मान अपमान आदिक में साम्यभाव रहता है। वे तो अपने आपके विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी आत्मस्वरूप को ही अपने उपयोग में रखकर उसमें रमण किया करते हैं, और इसी रमण के लिए बाहरी तपश्चरण का विधान है।

"इच्छानिरोधस्तपः" इच्छाओं का निरोध करना यही परम तप है। जो संस्कार अनादि काल से मेरी शान्ति का घात करने वाले हैं—जैसे अभिलाषायें होंना, कलुषतायें होंना, रागादिक विकारभाव होंना, आदि इन सब का निरोध करना इसका नाम तप है। जैसे अभी जो स्वर्ण पाषाण है वह शुद्ध स्वर्ण नहीं है। उसमें अभी अशुद्धता है, किट्टकालिमा है, जब उसको सोलह

ताववाली अग्नि में तपा कर किट्टकालिमा को दूर कर दिया जाता है तब वह विशुद्ध स्वर्ण होता है, ठीक इसी प्रकार हम आप में जब तक इच्छाओं की, विभावों की, विकल्प विचार तरंगों की जो कलुषतायें हैं तब तक हम आप मलिन हैं। हम आपको विशुद्ध बनने के लिए ये धूप में, अग्नि में या जमीन के अन्दर गड्ढे में पड़े रहने रूप कुतपों से काम न चलेगा। अरे इस ध्यान रूपी अग्नि को प्रज्वलित करके समस्त प्रकार की पर्यायबुद्धियाँ, पर की उपासना, समस्त प्रकार की कलुपतायें इन सबको ध्वस्त करना होगा। हमारे ऊपर जो अष्ट प्रकार के कर्मों का विकट बोझ बन्धन लगा हुआ है उनको ध्वस्त करने के लिए तपरूपी अग्नि को प्रज्वलित करना होगा। कोई चाहे कि हम सुखिया पन से रह लें और मेरे कर्म रूपी ईंधन का ढेर भी ध्वस्त हो जाय तो ऐसा हो कैसे सकता है ? अरे जिन तीर्थंकरों के ध्रुवसिद्धि का नियम है उनको भी तप करना पड़ा। तब वे अपने आत्मा को विशुद्ध बना सके। तब फिर यहाँ हम आप देहके सुखिया रहकर किस तरह से इतने बड़े अष्ट कर्मों के ढेर को ध्वस्त कर सकेंगे ? अरे इस देहके सुखियापन को छोड़ना होगा। यहाँ के इन इन्द्रियविषयों में ठोकर मारनी होगी, अपने आपके चैतन्य स्वरूप में जब लीनता होगी तभी इन समस्त प्रकार के कर्म मलों का विध्वंस हो सकेगा। और तभी हमें वास्तविक आनन्द मिलेगा।

हम आपको आज यह मनुष्य शरीर मिला हुआ है, तो इसको पाने की सार्थकता इसको तप में लगाने में है। जैसे यहाँ पर कोई कारखाना लगाता है तो उसको मशीनरी फिट करनी होती है, वह मशीनरी लगाता है, तो ऐसा थोड़े ही सोचता है कि यह घिसे नहीं, इसका कोई पेंच पुर्जा बिगड़ने न पावे अरे वह तो मशीन को

चलायेगा, मशीन भी घिसेगी, पुर्जे भी धीरे-धीरे कमजोर होंगे, उन्हें भी वह बदलेगा। तभी वह अपने वस्तु उत्पादन के कार्य में सफल हो सकता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष इस शरीर को पाकर इसे एक मशीन समझकर इसके द्वारा शान्ति का कारखाना लगाते हैं। इसका सदुपयोग करते हैं। उनको अपने इस शरीर रूपी मशीन के द्वारा शान्तिरूपी वस्तु का उत्पादन करना है तो वे शरीर को तो अपना कारखाना समझ लेते हैं। वे यह नहीं सोचते कि इसको ज्यों का त्यो रखें। अरे वे तो इस शरीर रूपी कारखाने को घिसने भी देते हैं, इसमें कोई अंगो-पांग रूपी पेंच-पुर्जा बिगड़ेगा तो उसे भी सुधरवायेंगे, और इसको कारखाने की भांति चला-चला कर शान्तिरूपी वस्तु का उत्पादन करते हैं। इस शरीर की सार्थकता तो आत्मशान्ति पा लेने में ही है। शरीर को तप में लगाने से शान्ति प्राप्त होती है।

इस शरीर की सार्थकता तो इस तप से ही है, ऐसी बात ज्ञानी पुरुषों के चित्त में घर किये हुए रहती है। तो मूल में दो प्रकार के तप बताये गये हैं— (१) अन्तरंग तप (२) बहिरंग तप अब बताते हैं कि अन्तरंग तप भी ६ प्रकार के हैं।

अन्तरंग तप :—(१) प्रायश्चित (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग (६) ध्यान।

बहिरंग तप :—(१) अनसन (२) औवमौदर्य (३) वृत्ति-परिसंख्यान (४) रसपरित्याग (५) विविक्तसय्यासन और (६) काय क्लेश।

अब अन्तरंग तप के विभागों में पहले प्रायश्चित तप को

लीजिये ।

(१) प्रायश्चित तप :—प्रायश्चित के अन्दर दो शब्द हैं—प्रायस और चित्, प्रायस का अर्थ है अपराध और चित का अर्थ है शुद्धि करना । याने अन्तरंग में जो रागद्वेष रूप अथवा विषय कषाय रूप अपराध होता है, दोष लगते हैं उसकी शुद्धि के लिए जो तपश्चरण किया जाता है उसे कहते हैं प्रायश्चित तप । इन रागद्वेषादि विकारों को विषयवासनाओं को इस तप वल के द्वारा पनपने ही न दें, उनको जड़ से समाप्त करें । किस विधि से ये समाप्त होंगे ? आत्मनिन्दा द्वारा, देवशास्त्रगुरु के समक्ष प्रायश्चित करके अनेक प्रकार के विधि विधानों द्वारा उन विकारों को, मलीमसताओं को, कलुषताओं को, ध्वस्त किया जा सकता है । तो ऐसे तप का नाम है प्रायश्चित तप ।

(२) विनय तप :—मूल में तो विनय वह है अपने आपकी जो वाह्य में दृष्टि लगाये हुए हैं, विकारों के कारण यह आत्मा संतप्त हो रहा है, उन सब विकार भावों से हटकर यह आत्मा आपने आपके शुद्ध आत्मस्वभाव की ओर भुके यही आत्मा की वास्तविक विनय है । ज्ञानी पुरुष अपने आपके प्रति भुकते हैं, यही उनकी अपने आपके लिए वास्तविक विनय है । इस वास्तविक विनय को करके वे अपने आपके तप की सिद्धि कर लेते हैं और व्यवहार में जो सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं उन के प्रति विनय होवे, गुरूजनों के प्रति साधर्मी वन्धुओं के प्रति देवशास्त्रगुरु के प्रति अपनी विनय होना यही है विनय तप ।

(३) वैयावृत्य तप :—व्यवहार में देखो तो गुरूजनों की, दीन दुःखी रोगी आदि की सेवा को वैयावृत्ति कहते हैं, पर वास्तविक

वैयावृत्ति तो अपने आत्मस्वरूप की सेवा करना है। आत्मस्वरूप इन विषयविकार आदि मिथ्या भावों के कारण मलिन है, दुःखी है, पीड़ित है सो उनकी वैयावृत्ति करना सो वैयावृत्य तप है। इन विषय भोगों रूप पदार्थों को इस मोही मलिन प्राणी ने अपने चित्त में बसा रखा है, इसके कारण आज इसकी मलिन दशा है। इस मलिनता का दुःख का, संताप का निवारण करने के लिए वैयावृत्य तपश्चरण करना होगा। ज्ञानीजन इसी आत्मस्वभाव की वैयावृत्ति के लिए सदासतत प्रयत्नशील रहा करते हैं तो यही उनका वास्तविक वैयावृत्य तप है।

(४) स्वाध्याय :—व्यवहार में स्वाध्याय कहते हैं वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों के अध्ययन करने को। इस स्वाध्याय शब्द में दो शब्द हैं—स्व और अध्याय, स्व का अर्थ है आत्मा और अध्याय का अर्थ है अध्ययन करना। स्व का अर्थात् आत्मा का अध्ययन करना, चिन्तन करना, मनन करना, इसका नाम है स्वाध्याय। अपने आपके बारे में ऐसा चिन्तन होना कि मैं आत्मा सर्व से पृथक् एक ज्ञान मात्र आत्मतत्व हूँ। सबसे निराला हूँ, इस मुझ आत्मा का किसी भी पर पदार्थ से रंच भी सम्बन्ध नहीं है। यह आत्मा मात्र जानन देखनहार है। इसका स्वरूप ज्ञायक है। इस असमानजातीय द्रव्यपर्याय में मैं मनुष्य हूँ, त्यागी हूँ, विद्वान हूँ आदिक रूप में अपने को अनुभवना यह तो एक मूढ़ता भरी बात है, और अपने आपको समस्त पर्याय बुद्धियों से पृथक होकर चैतन्यस्वरूप मात्र विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव मात्र अपने आत्मस्वभाव को उपयोग में लेना यही है वास्तविक स्वाध्याय और इस स्वाध्याय की प्राप्ति के लिए वीतराग पुरुषों द्वारा कहे हुए शब्दों का संकलन जिन वाणी में है। अतः जिनवाणी का स्वाध्याय

करके अपने चैतन्य स्वभाव में स्थिर होवें।

(५) व्युसर्गतप:—इस काय (शरीर) से ममत्व का छोड़ना और अपने आपके निर्ममत्व स्वरूप को चिन्तवन करना व्युत्सर्ग तप है। यह देह तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न स्वरूप रखती है। यह तो पौद्गलिक है, मूर्तिक है, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक का पिण्ड है। यह मैं आत्मा चैतन्य स्वरूप हूँ, इस शरीर से बिल्कुल भिन्न पदार्थ हूँ, इस प्रकार का चिन्तन करना सो व्युत्सर्ग तप है।

(६) ध्यान तप:—पहिले जो ५ प्रकार के तप बताये गये हैं उन सबका प्रयोजन है इस उत्तम ध्यान की स्थिति में आने का। यह ध्यान क्या है ? अपने आपको ऐसा अपने आपके आत्म-स्वरूप में तल्लीन कर देना कि जहां–किसी प्रकार का बाह्य चिन्तन न रहे, विकल्प न रहें मात्र अपने चित्स्वभाव में ही अपना उपयोग गड़ जावे, ऐसी स्थिति को कहते हैं ध्यान। जैसा कि तत्वार्थ सूत्र में कहा है कि 'एकाग्र चिन्तानिरोधोध्यानम्', अर्थात् एक ही विषय की ओर चित्त का लग जाना और अन्य चिन्ताओं से मुक्त हो जाना सो ध्यान है।

इन उपरोक्त ६ प्रकार के अंतरंग तपों से कर्मों की निर्जरा होती है, कर्ममलीमसतायें धुलती हैं और आत्मा निर्मल बन जाता है, पर इन ६ प्रकार के तपश्चरण करने के लिए जो बाह्य तपश्चरण सहायक रूप से ६ प्रकार के बताये गये हैं उनको भी करना आवश्यक है। ये बाह्य तपश्चरण अंतरंग तपश्चरण के कारण हैं। वे ६ बाह्य तप इस प्रकार हैं–

बाह्यतप:—(१) अनशनतप:—चार प्रकार के आहार

का त्याग कर देना सो अनशन तप है। वे चार प्रकार के आहार हैं खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय। अनशन का दूसरा अर्थ उपवास भी है। उपवास शब्द का अर्थ भी यही है—उप मायने समीप और वास मायने रहना, अर्थात् अपने आपके समीप वास करना सो उपवास है। अब यह काम कैसे हो? सो जहां पर आहार करने का भी विकल्प न हो, मात्र अपने आत्म स्वरूप के निकट वास करने का जहां ध्यान हो, झुकाव हो ऐसी स्थिति पाने के लिए यथाशक्ति अनशन करना भी आवश्यक है। इन चारों प्रकार के आहारों का त्याग किया जाता है विषय कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए। जब तक इन विषय कषायों पर विजय नहीं प्राप्त की जायगी तब तक आत्म स्वरुप में रमण करने की स्थिति बन नहीं सकती। अतः इन विषय कषाय आदिक विकार भावों से बचने के लिए अनशन आवश्यक बताया गया है। आगम में एक जगह कहा है कि—

> कषाय विषयाहारो, त्यागो यत्र विधीयते।
> उपवासा स विज्ञेया, शेषं लंघनकं विदुः ॥

अर्थात् यदि चारों प्रकार के आहार का त्याग तो कर दिया, विषय कषायों का और तत्सम्बन्धी इच्छाओं का त्याग न किया तो आचार्य देव कहते हैं कि उसका उपवास नहीं कहलाया। वह तो लंघन है। ऐसा उपवास क्या फल देगा जिससे व्याकुलता हो जाये, आकुलता मच जाय। वहां तो उपवास करके भी यही मन करता है कि कब दिन पार हो, दूसरा दिन हुआ नहीं कि आहार करने की बड़ी जल्दी पड़ जाती है। तो ऐसा उपवास करने से फायदा भी क्या हुआ? जहाँ आकुलतायें मच जायें ऐसा अनशन करने से अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती। उपवास में विषय कषाय

और आहार इन तीनों चीजों का त्याग होता है। अरे अनशन करने का मुख्य प्रयोजन तो यह था कि सर्व प्रकार के आरम्भ परिग्रह विषय कषाय आदिक से दूर रहकर एक इस आत्मध्यान में रत हुआ जाय। पर कोई अनशन करके इन्हीं लौकिक कार्यों में ही पड़ जाय तो उससे लाभ क्या पाया ? अथवा कोई सोचे कि चलो आज अपना अनशन का दिन है, इसे तो निद्रा लेकर व्यतीत करें, तो उससे भी क्या सिद्धि मिल पायगी ? अरे यह अनशन तप तो आत्मध्यान के लिए है। जिस दिन अनशन हो उस दिन पूरा समय धर्म ध्यान में व्यतीत किया जाय। उस चिन्तन में ऐसा विचार किया जाय कि हे आत्मन्, मैंने अनादिकाल से लेकर अब तक न जाने कितना-कितना खाया है, पर उससे कभी तृप्ति नहीं मिली। अब तो मैं २४ घंटे के लिए किसी भी प्रकार के आकार को न ग्रहण करूंगा, उसका विकल्प तक भी न रखूंगा। अरे जब कभी भी आज तक इस आहार से तृप्ति न हुई तो अब उसकी क्या इच्छा करना ? यह आत्मा अविनाशी है। कहीं हमारे एक दिन आहार न करने से यह आत्मा मिट थोड़े ही जायगा। अपने अनशन स्वभावी आत्मा का चिन्तन करना यही प्रयोजन है इस अनशन तप का।

देखो—लोगों में एक ऐसा सुखियापन होता है कि वे एक दिन को भी राजी खुशी से आहार नहीं छोड़ पाते हैं पर कदाचित बीमार हो गये, डाक्टर ने दो हफ्ते को अन्न छुड़वा दिया तो बड़ी राजी खुशी से छोड़ देते हैं। अरे यदि राजी खुशी से उसी प्रकार कभी-कभी आहार का विकल्प छोड़कर आत्म ध्यान करें तब तो उद्धार हो जायगा। जरा चिन्तन करो नरक भूमि की क्षुधा तृषा आदि की वेदनाओं का। तीनों लोक का सारा का सारा अन्न खा जाये फिर भी क्षुधा न मिटे, इतनी बिकट क्षुधा की वेदना वहाँ

होती है, फिर भी एक कण भी अन्न खाने को नहीं मिलता। जब ऐसी बात है तो फिर यहाँ स्वच्छन्द बनकर आहार के लिए अपना क्या प्रवर्तन बनाया जा रहा है ? अरे कुछ तो चेतें और अनशन तप के द्वारा अपने उत्तम कार्य को कर लेवें, इससे ही इस अपने जीवन की सार्थकता है।

(२) अवमौदर्य तपः—अल्प आहार का नाम है अवमौदर्य। इसे ऊनोदर भी कहते हैं। इस अवमौदर्य शब्द में दो शब्द हैं अव तथा मौदर्य। अव का अर्थ है कम और मौदर्य का अर्थ है पेट, अर्थात् पेट से कम खाने का नाम है अवमौदर्य तप। भूख से कम खाना यह तो अनशन से भी बड़ा तप है जैसे अनशन तप करने से विषय कषाय आदिक के विकार भाव शिथिल हो जाते हैं ऐसे ही इस तप करने से निद्रा, आलस, प्रमाद विषय कषाय आदिक विकारभाव शिथिल हो जाते हैं। अनशन तप से भी बड़ा तप इस ऊनोदर को कहा है। भूख से कम खाना वास्ताव में एक ऊंचा तप है जैसे कोई कपड़े का व्यापारी हो उसके यहाँ लोग शादी ब्याह आदिक के लिए कपड़ा खरीद रहे हैं तो वह व्यापारी दूकान को छोड़ना नहीं चाहता, क्योंकि अधिक आय होने की सम्भावना है, पर यदि कोई व्यापारी ऐसे मौके पर भी उस दूकान की काम काज की उपेक्षा करदे तो यह इसके लिए अधिक प्रशंसा की बात है, क्योंकि उसकी इसमें आशक्ति नहीं है। ठीक इसी प्रकार जहाँ भोजन सामग्री बहुत रखीं हों, अनेक प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन रखे हों और उनकी यह उपेक्षा करके अधपेट ही खाकर चल दे तो यह तो उसके लिए प्रशंसा की बात है, क्योंकि उसकी उस भोजन में आशक्ति नहीं हैं। तो यह ऊनोदर तप इस अनशन तप से भी कठिन तप है।

(३) वृत्तिपरिसंख्यानतप:—जब साधु जन आहार करने के लिए निकलते हैं—जैसे यदि अमुक गली में चौका होगा तब तो आहार करूंगा, इतने लोग इस तरह की चीजें लेकर यदि पड़गाहने के लिए खड़े होंगे तब ही आहार लूंगा आदि अनेक प्रकार की आखड़ी लेकर मुनिजन आहार के लिए निकलते हैं ? अरे आहार करने को भी वे एक आफत समझते हैं। आहार वे करना ही नहीं चाहते। उसमें उन्हें आशक्ति ही नहीं सो वे अपने उदय की परीक्षायें करते रहते हैं। अगर योग्य विधि से आहार मिल गया तो ले लिया नहीं तो उसकी भी उपेक्षा करके चल देते हैं। बहुत-बहुत मनाया जाने पर भी वे आहार नहीं लेना चाहते। उनका उस आहार के प्रति उपेक्षा का भाव रहता है। ऐसा वृत्तिपरिसंख्यान तप करके वे मुनिजन अपने में छिपे हुए रागद्वेप विपय-कपाय आदि मलीमसताओं के संस्कारों को शिथिल बनाते रहते हैं।

(४) रसपरित्यागतप:—जो भी खाद्य अथवा पेय पदार्थ होते हैं उनमें स्वाद तो होता ही है। तो स्वाद की दृष्टि से तो वे मुनिराज आहार ग्रहण नहीं किया करते। स्वादिष्ट भोजन करने से रसना इन्द्रिय की लम्पटता प्रतीत होती है। अतः इस रसना इन्द्रिय पर कन्ट्रोल करने के लिए वे मुनिजन नीरस आहार ग्रहण किया करते हैं नीरस आहार करने से विपयादिक की वासनायें क्षीण हो जाती हैं। अतः यह नीरस भोजन धर्ममार्ग में प्रगति करने के लिए सहायक होता है। फिर मुनिजन तो आहार करते हैं मात्र इस शरीर को टिकाये रखनें के लिये। तभी तो मुनिजनों के लिये खड़े खड़े आहार लेनें का विधान है। खड़े होकर आहार लेने में इस बात का परीक्षण है कि शारीरिक शक्ति कैसी है। खड़े होकर भोजन करने से स्वाद

लेने की या भोजन में आशक्ति जगने की बात नहीं बन पाती। वे मुनिजन घासवत् नीरस आहार करते हैं। वे केवल पेट रूपी खड्डा भरने के लिए कभी केवल एक ही रस ले रहे, कभी दो ही, आदि रसों का परित्याग करके भोजन करते हैं। इस तप का आज जैसा विक्रितरूप नहीं है। नमक के त्याग में मीठे पदार्थों को ग्रहण किया, मीठे के त्याग में मुनक्कों का मीठा बना लिया, और दूध के त्याग में बादामों का दूध बना लिया आदि। सच्चे योगी का तप अपने हित के अर्थ होता है। अपने भोजन लोलुपता सम्बन्धी संस्कारो को तोड़ने के अर्थ होता है। खड़े होकर भोजन करने में एक बात और भी है कि जिस तरह बच्चों को अपने खेल में मस्त होने से खाने के लिए जब मां बुलाती है तो खड़े ही खड़े खाकर खेलने चले जाते हैं झटपट, इसी तरह उन योगी पुरुषों को अपने आप के ध्यान की ऐसी धुन रहती है कि उन्हें कहां फुरसत कि बैठकर भोजन ही करलें। वे खड़े खड़े ही झटपट जो कुछ मिला उसे खाकर आत्मध्यान को चल देते हैं। देखिये—चरणानुयोग के शास्त्रों में जो भी चर्चायें आयी हैं उनमें वैज्ञानिक विशेषतायें भी बहुत भरी हैं। सो उन विशेषताओं को समझें और उनके अनुसार अपने आपको ढालें तो फिर ऐसा नहीं हो सकता कि उन विधियों के द्वारा हम अपने आपके चैतन्य प्रकाश को प्राप्त ना करें। तो इन ६ प्रकार के बहिरंग तपों में रस परित्याग तप को भी बड़ा महत्व दिया गया है।

(५) विविक्तसय्यासन तप;—एकान्त स्थान में सोना, उठना बैठना इसका नाम है विविक्तसय्यासन। देखिये—आत्मा का जो सर्व पदार्थों से विविक्त स्वरूप है उसे अपने उपयोग में लाने के लिये विविक्तसय्यासन तप करने की परम आवश्यकता है।

गृहस्थजनों के बीच रहकर नगरों में रहकर इन मोहीजनों के सहवास में रहकर अपने आपके विविक्तस्वरूप का ध्यान नहीं किया जा सकता। आज तो देखते हैं कि त्यागी लोग भी कहने लगते हैं कि आज तो हम यहां अकेले ही रह गये, अमुक लोग चले गये, यहाँ हमारा मन ही नहीं लगता।—अरे यदि अपने जीवन में कुछ कल्याण की दिशा में बढ़ना है तो इस विविक्त-सय्यासन तप का स्वागत करना होगा। उन मोहीजनों का संसर्ग छोड़कर एकान्त स्थानों में रहकर धर्मसाधना करनी होगी। देखो जिन पुरुषों के चरित्र आज हम आप पढ़ते हैं उन्होंने भी क्या किया था ? संसार के सारे इन मायामयी प्रसंगों को छोड़कर हजारों वर्ष जंगलों में, निर्जन, एकान्त स्थानों में रहकर इसी विविक्तसय्यासन तप को किया था। तभी वह अपने आपके अनन्त आनन्द की स्थिति को प्राप्त कर सके।

(६) कायक्लेशतपः—अंतिम बाह्य तप है कायक्लेश। अपने आपकी परीक्षा के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों में भी रहते हुए मुनिजन कायक्लेश तप को तपा करते हैं। जैसे गर्मी के दिनों में पहाड़ों की तप्त चट्टानों पर बैठकर तपश्चरण करना अथवा शीतकाल में नदियों के तट पर (अत्यन्तशीत के स्थानों में) बैठकर कायक्लेशरूप तप करना, बरसात के दिनों में पेड़ों के नीचे ही बैठकर तपश्चरण करना, ऐसी प्रतिकूल स्थितियों में भी वे मुनिराज इस काया (शरीर) पर जरा भी दृष्टि न रखकर अपने अंतः स्वरूप में लीन हुआ करते हैं। काय सम्बन्धी क्लेशों को क्लेश न मानकर वे अंतः स्वरूप में लीन हुआ करते हैं। काय सम्बन्धी क्लेशों को क्लेश न मानकर वे अतः प्रसन्न रहा करते हैं। देखिये सुकुमाल, गजकुमार तथा पांचों पाण्डवों आदि के दृष्टान्त हमारे सामने हैं।

सुकुमाल बाल्यावस्था में किस तरह से सुख में पले पुसे थे, पर मुनि अवस्था में जिस समय उनके शरीर का भक्षण सिंहनी (उनकी ही पूर्व भव की माता) कर रही थी, पर उस घोर उपसर्ग के समय भी रंच विचलित न हुए। वे अपने आत्म-ध्यान में ही लवलीन थे, यह था उनका कायक्लेशतप। गजकुमार के सिर पर उनके ही ससुर ने अंगीठी जलायी लेकिन वे उस समय आत्मध्यान में इतने लवलीन थे कि वे बाहरी उपद्रव उन्हें उपद्रव ही नहीं प्रतीत हुए। शरीर की ओर उनका कुछ ध्यान ही न था। वे तो अपने आत्मध्यान में रत होकर अनन्त आनन्द में विभोर हो रहे थे। यह था उनका कायक्लेशतप।

देखो पांचों पाण्डवों को उनकी मुनि अवस्था में कौरववंश के द्रोही लोगों ने अपना बदला चुकाने के लिए अग्नि में तप्त किये हुए लोहे के आभूषण पहनाये थे। उनका सारा शरीर जल रहा था, लेकिन उन घोर उपसर्गों पर वे रंच भी विचलित नहीं हुए। उन्हें तो इस शरीर की ओर भान ही न था। वे तो अपने आत्मस्वरूप में ही स्थित रहे। अतः इन घोर उपसर्गों के समय में भी वे रंच भी विचलित नहीं हुए। यह था उनका कायक्लेशतप। देखिये—कुंथलगिरी पर्वत पर देशभूषण और कुलभूषण ध्यान में थे। उन पर किसी दैत्य ने कितने ही उपसर्ग ढाये, पर उन उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करते गये। यह किस बल का प्रताप था ? कौन सी चीज उन्होंने पा ली थी जिसकी वजह से ऐसे घोर उपसर्गों के समय भी जरा भी विचलित नहीं हुए। —अरे उन्होंने इस शरीर से भिन्न अपने आपके आत्मस्वरूप को पहिचाना था। इस आत्म स्वरूप के ध्यान में मग्न होने के कारण ही उन्होंने उन घोर उपसर्गों को समता पूर्वक सहन किया था। वे रंच भी अपने स्वरूप से न डिगे थे, यह था उनका कायक्लेश तप।

इस तपश्चरण का कितना चमत्कार है इसका एक जीता जागता उदाहरण है। एक रूप लक्ष्मी नाम की महिला थी, वह पंचमी के ५-५ दिन के उपवास किया करती थी। वह बड़ी भोलीभाली थी, उसने अपने जीवन में कभी रोना नहीं सुना था। तो एक बार क्या घटना घटी कि वह अपने घर से कहीं बाहर जा रही थी, सो रास्ते में उसे एक रोती हुई महिला दिख गई। उसका कोई बेटा मर गया था, जिससे वह रो रही थी। तो रूप लक्ष्मी ने जब यह रोना सुना तो समझा कि यह तो कोई स्त्री गीत गा रही है। उसने कभी रोना सुना ही न था। इसलिए उसे गीत समझ लिया। सो उस रोने वाली स्त्री से कह उठी कि बहिन तुम तो बहुत अच्छा गा रही हो। उसे लग गया बुरा कि देखो हमारा तो बेटा मर गया जिससे हम रो रहे हैं और यह कहती है कि तुम बड़ा अच्छा गीत गा रही हो। उसने यह प्रतिज्ञा की कि मैं भी इसको इसी तरह से रुलाकर रहूँगी। क्या उपाय किया कि एक मिट्टी के सकोरे में जहरीला सर्प भरकर उसे बन्द करके रूपलक्ष्मी को दिया और कहा बहिन इस सकोरे के अन्दर बड़ी कीमती रत्नों की माला है, उसे तू अपने बेटे को पहिना देना। वह तो घर चली गई। उधर उस स्त्री ने अपने बेटे से कहा कि बेटा तुम ९ बार णमोकारमंत्र पढ़कर इस सकोरे के अन्दर से रत्नमाल निकालकर पहिन लो। बेटे ने वैसा ही किया। उसे उस सकोरे के अन्दर कीमती रत्नों की माला मिली। उसे पहिन लिया। पहिनकर फिर उसी सकोरे में रखकर बन्द कर दिया। दूसरे दिन वही स्त्री जो कि वह सकोरा दे गयी थी, आती है। वह सोच रही थी कि उसका तो बेटा सर्प के काटने से मर चुका होगा, पर वहां जाकर देखा तो बात कुछ और ही थी। पूछा बहिन, पहिनाया था वह रत्नमाल अपने बेटे को ?—हां बहिन पहिनाया तो था। वह तो

बहुत ही सुन्दर रत्नमाल है।–कहां रखा है ?—उसी सकोरे में। जब उस स्त्री ने उस सकोरे में हाथ डाला तो उसी जहरीले सर्प ने उसको डस लिया और वह मरण को प्राप्त हो गयी। तो इस दृष्टान्त से अपने लिए शिक्षा योग्य बात यह लेना है कि उस रूप लक्ष्मी के पंचमी के ५-५ दिन उपवास करने का यह फल था कि उसकी रक्षा हुई तो हम आपको ये व्रत उपवास आदिक तपश्चरण करके अपने जीवन को रक्षित बना लेना चाहिए और अपने भविष्य को भी उज्ज्वल बना लेना चाहिए।

तपश्चरण करने का प्रभाव है आतमा की विशुद्धि होना। तपश्चरण करने वालों का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता है। देखिये जब राजा श्रेणिक ने यशोधर मुनिराज के गले में जंगल में सर्प छोड़ा था और चेलना ने बाद में उस उपसर्ग का निवारण किया था तो उस समय मुनिराज ने दोनों को ही (उपसर्ग करने वाले को और उपसर्ग हटाने वाले को) एक ही आशीर्वाद दिया था—'उभयोधर्मवृद्धिः', अर्थात् तुम दोनों को धर्मवृद्धि हो। इतनी बात को सुनकर राजा श्रेणिक पर बड़ा प्रभाव पड़ा, ओह धन्य हैं ये मुनिराज, उनकी दृष्टि में उपसर्ग करने वाला और उपसर्ग टालने वाला दोनों ही बराबर हैं। उस समय राजा श्रेणिक के भाव अत्यन्त विशुद्ध हुए। सो देखिये—भावों का फल कि कहां तो उपसर्ग करते समय राजाश्रेणिकने ३३ सागरकी नरक की आयु बांधी थी, और उस समय मुनिराज द्वारा आशीर्वाद के शब्द सुनते समय ऐसे विशुद्ध भाव हुये कि केवल ८४ हजार—वर्ष की आयु रह गई। यह आत्मविशुद्धिका ही तो प्रताप है। तपश्चरण करने का फल है आत्मविशुद्धि होना। प्रत्येक कल्याणार्थी को आत्मविशुद्धि करने के लिए तपश्चरण को अंगीकार करना ही होगा।

एक और भी दृष्टान्त देखिये–एक रानी का बाग था। वह रानी बाग को हरा भरा बनाये रखने की बड़ी शौकीन थी। एक बार जब वह बीमार हुई तो अपने बेटे से बोली बेटा–मैं तो बीमार हो गयी हूँ। सो जब तक मैं ठीक न हो जाऊं तब तक तुम इस बगीचे को सींचकर सफाई वगैरह करके खूब हरा भरा बनाये रखना।–अच्छी बात अब वह बालक क्या करता है कि प्रतिदिन डाली डाली, पत्ती, पत्ती खूब धोता था, साफ करता था, किसी भी पत्तों में, डाली में, धूल लग गयी हो तो तुरन्त बड़ी सावधानी से उसे धोकर साफ कर देता था। यह क्रिया वह बालक प्रतिदिन करता रहा, पर हुआ क्या कि थोड़े ही दिन में सारा बाग सूख गया। जब उसकी मां ठीक हुई और देखा कि सारा बाग सूख गया तो बहुत दु:खी हुई और बोली–बेटा तुमने इस बगीचे को सींचा नहीं था ?–अरी मां मैंने सारे बगीचे को बहुत बहुत सींचा था, सारी पत्तियों, सारी डालियों को, एक एक को मैंने प्रति दिन खूब जल से धोया, साफ किया किसी पत्ती या डाली पर धूल का धब्बा भी नहीं लगने दिया। मां मैंने तो बड़ा श्रम किया, फिर भी बाग सूख गया।–बेटा तुमने जड़ों में भी पानी डाला था कि नहीं ?–मां जड़ो में तो पानी नहीं डाल पाया–अरे तो कैसे बगीचा हरा भरा रह सके ? ठीक यही हाल हम आप अपने लिए सोचें। आत्मा की बात को तो चित में न लावें और हम आप इस त्याग मार्ग को तो अपना लेवें तथा त्याग मार्ग में आने के मर्म को न पहिचानें, आत्म स्वरूप की लीनता लाने की बात चित में न लावें और केवल ऊपरी ऊपरी त्यागीपने की क्रियायें भर करते रहें अथवा केवल त्यागीपने का ढोंग बनाये रहें तो ज़रा सोचो तो सही कि अपना यह आत्म-उपवन किस तरह से हरा भरा रह सकेगा ? अरे जिस

तरह से डाली डाली, पत्ता पत्ता सींचने से बगीचा हरा भरा नहीं रह सकता, सींचना चाहिये वृक्षों की जड़ों को, ठीक इसी प्रकार केवल इस शरीर की ऊपरी ऊपरी सफाई रखने से, ऊपरी कुछ क्रियाओं को ही करके उनमें ही धर्म मानकर उनमें अटके रहने से काम न चलेगा। सबसे पहिले जड़ को सींचना होगा अर्थात् अपना लक्ष्य विशुद्ध बनाना होगा, अपने को उत्तम तपश्चरण में लगाना होगा तभी इस धर्म रुपी वृक्ष को पालकर आत्म उपवन को हरा भरा रखा जा सकेगा।

यह जीवन तो दनादन बीता ही जा रहा है। बीता हुआ समय वापिस लौटकर नहीं आता। पर्वत से गिरने वाली नदी की तरह यह जीवन नीचे की ओर लुढ़कता जा रहा है। अतः शीघ्रता करो इस तपश्चरण को पाने के लिए। अन्यथा तो सारी उमर यों ही व्यर्थ में व्यतीत हो जायेगी और अन्त में पछतावा ही लगेगा। जैसे एक प्रसिद्ध दृष्टान्त है कि समय के फेर से कोई सेठ गरीब हो गया। वह अपने मित्र राजा के पास जाकर निवेदन करता है कि महाराज मैं दिनों के फेर से गरीब हो गया हूँ, कृपाकर आप मुझे कुछ धन दीजिये। तो राजा बोला—अच्छा कल तुम दो बजे से चार बजे तक हीरा जवाहरात के खजाने में चले जाओ और उन दो घंटों में जितना हीरा जवाहरात तुम ले जा सको ले जाना। अपने पहरेदार को भी इस बात की सूचना दे दी कि कलके दिन अमुक सेठ आयगा, उसे दो बजे से चार बजे तक जितना चाहे रत्न ले जाने देना, मगर समय पूरा हो जाने पर तुरन्त बाहर निकाल देना। सो पहुंचा वह सेठ रत्नों के खजाने में। तो अन्दर पहुंचकर क्या देखता है कि बड़े सुन्दर खेल खिलौने रखे हैं। सो मन में आया कि अभी समय तो काफी है, पीछे ले

लेंगे रत्न जवाहरात। अभी कुछ खिलौने देखें। हुआ क्या कि उन खेल खिलौनों के देखने में ही सारा समय व्यतीत हो गया। पहरे दार ने उसे तुरन्त निकाल कर बाहर किया। सेठ फिर पछताता हुआ राजा के पास गया, बोला महाराज—आज तो हमारा खजाने में जाना ही बेकार हो गया। खेल खिलौनों में ही रमकर सारा समय खो दिया। कृपाकर आप मुझे कुछ धन दे दीजिये—राजा ने फिर कहा—अच्छा कल तुम उसी समय पर दो घंटे के लिए सोने के खजाने में जाकर जितना चाहे सोना ले जाना। पहुंचा सेठ दूसरे दिन सोने के खजाने के अन्दर, तो वहाँ क्या देखा कि बड़े सुन्दर घोड़े बंधे हुए थे, उनमें से एक काला घोड़ा बहुत ही सुन्दर था। वह घोड़ों का शौकीन तो था ही, तो उस काले घोड़े पर बैठकर घूमने लगा, इसी प्रक्रिया में दो घण्टे का समय व्यतीत हो गया और चपरासी ने कान पकड़कर निकाल दिया। फिर राजा के पास पहुंचा—बोला महाराज आज भी मैं वहां से कुछ न ला सका, समय घुड़सवारी करने में ही निकल गया। तो राजा ने कहा अच्छा कलके दिन तुम चांदी के खजाने में जाकर उसी दो घंटे में जितनी चाहे चांदी ले जाना। सेठ तीसरे दिन फिर पहुंचा तो वहां क्या देखता है कि एक गोरख-धंधे का खेल था। कुछ छल्ले एक दूसरे से फँसे थे। किसी छल्ले को सेठ ने छू लिया तो वह उलझ गया। चपरासी ने कहा सेठ जी तुम्हें तो वह छल्ला उसी तरह से सुलझा देना पड़ेगा सो ज्यों ज्यों वह सुलझाये त्यों त्यों ही वह उलझता जाता था। यों सारा समय व्यतीत हो गया और चपरासी ने निकाल बाहर किया। सेठ फिर पछताता हुआ राजा के पास पहुंचा, बोला—महाराज आज भी मेरा समय गोरख धंधे में ही व्यर्थ चला गया, कुछ न ला सका, कृपाकर एक बार और कुछ खजाने से लाने

का आदेश दे दीजिये। तो इस बार राजा बोला—अच्छा देखो तुमको यह अन्तिम मौका दिया जा रहा है। अब इसके बाद मौका नहीं दिया जायेगा। कलके दिन तुम तांबे के खजाने में जाना और उन्हीं दो घंटों में जितना चाहे तांबा ले जाना। जब सेठ चौथे दिन फिर पहुंचा तो वहां क्या देखा कि एक स्प्रिंगदार सुन्दर कोमल सुकोमल गद्देदार पलंग था। उसे देखकर उसके मन में आया कि अभी तो काफी समय है, जरा इस पलंग पर दो चार मिनट को लेटकर देखें तो सही कि कितना अच्छा लगता है। सो ज्यों ही लेटा कि नींद आ गयी। समय व्यतीत हो गया, और चपरासी ने निकाल बाहर किया। तो देखिये—जैसे सेठ ने सारे श्रम किये पर खेल खिलौनों में, घोड़ों की सवारी में, गोरख धंधों में और पलंग पर लेटने में अपना सारा समय गंवा दिया, लाभ कुछ न पा सका, इसी प्रकार यह संसारी प्राणी भी इस दुर्लभ मानव जीवन की चार अवस्थाओं में व्यर्थ के ही कार्यों में पड़कर अपना सारा जीवन व्यतीत कर देता है, लाभ कुछ नहीं पाता। बचपन की अवस्था खेल खिलौनों में व्यतीत कर देता है, कुमार अवस्था का समय बाहनों में चढ़ने में व्यतीत कर देता है, फिर यौवन अवस्था में शादी होने पर गोरख धंधे में समय बीतता है। उसमें ही उलझा रहता है और वृद्धावस्था में पलंग पर लेटा लेटा अपना समय व्यतीत कर देता है। अरे इस दुर्लभ नर देह को पाकर कुछ न कुछ शक्ति प्रमाण तप को स्वीकार करो। जिस प्रकार वातपित्तकफ आदि का प्रकोप नहीं हो, परिणामों में उज्वलता बनी रहे और तप में उत्साह बढ़ता रहे ऐसा तपश्चरण करना चाहिए। बालक वृद्ध, धनी निर्धन सबल निर्बल आदिक सभी को यथाशक्ति तप अवश्य करना चाहिए। तप से ही इस जीव का कल्याण है। काम, निद्रा,

प्रमाद आदि को नष्ट करने वाला तप ही है। संवर निर्जरा का प्रधान कारण तप ही है। तप का अचिन्त्य प्रभाव है। त्रैलोक्य में तप समान अन्य नाहीं।

अब देखिये—जैसे एक जगह किसी कवि ने कहा है ना कि :—

"दोऊ काम नहिं होत सयाने, विषय भोग अरु मोक्षहु जाने।।"

अर्थात् ऐसा न हो सकेगा कि यहां की इन मायामयी चीजों में रमते भी रहें, यहां की मौज भी लूटते रहें और हमारा कल्याण भी हो जाय। यदि जीवन में कुछ आगे बढ़ना है और अपने जीवन को सफल बनाना है तो इस तपश्चरण को अंगीकार करना होगा। इस तपश्चरण के द्वारा ही सारी कलुषताओं को, विकार भावों को समाप्त किया जा सकता है। इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर श्रेष्ठ कर्तव्य यही है कि तत्व का मनन करें तथा तप में उद्यमी रहें। यह आयु तो क्षण क्षण में बीती जा रही है। जैसे नदी से गिरने वाला पानी नीचे वह गया तो फिर पुनः लौटकर नहीं आता इसी प्रकार जीवन का जो समय बीत गया, वह लौटकर पुनः नहीं आता। अतः ऐसा जानकर शीघ्र ही यथासम्भव इस तपश्चरण धर्म का पालन करें और अपना यह दुर्लभ मानव जीवन सफल करें। द्यानतराय जी ने निम्न पंक्तियां तप के सम्बन्ध में कितनी सुन्दर कही हैं:—

तप चाहें सुर राय, करम शिखर को वज्र है।
द्वादशविध सुखदाय, क्यों न करे निज शक्तिसम।।
उत्तम तप सब मांहीं बखाना, करम शैल को वज्र समाना।
बस्यो अनादि निगोद मँझारा, भू विकलत्रय पशु तन धारा।।

धारा मनुषतन महा दुरलभ, सुकुल आयु निरोगता।
श्री जैन वाणी तत्वज्ञानी, भई विषयपयोगता ॥
अति महा दुरलभ त्याग विषय, कषाय जो तप आदरें।
नरभव अनूपम, कनक घर पर मणिमयी कलसा धरें ॥

(ॐ ह्रीं श्री उत्तम तप धर्माङ्गाय नमः)

उत्तम त्याग

आज त्याग धर्म का दिन है। छोड़ने का नाम है त्याग। 'त्यजती तित्याग।' क्या छोड़ना? धन सम्यदा आदिक परिग्रह, जो कि कर्म के उदयजनित हैं, विनाशीक हैं अहंकार को उत्पन्न करने वाले हैं, तृष्णा को बढ़ाने वाले हैं, रागद्वेष की तीव्रता करने वाले हैं, आरम्भ की तीव्रता करने वाले हैं, ऐसे परिग्रहों का त्यागना सो है उत्तम त्याग। परमार्थ में देखा जाय तो इन परिग्रहों को नहीं छोड़ना है, क्योंकि ये तो छूटे हुए ही हैं। आत्मा इनसे भिन्न ही है, पर इन परिग्रहों के प्रति जो ममता है, अनादिकाल से जो ये मिथ्याभाव बनते हैं कि ये परपदार्थ मेरे हैं, ऐसे मिथ्या-भावों का त्याग करना है। तो आत्मा की विशुद्धि करना, सत्यप्रतीति सहित अपने चैतन्य स्वभाव को उपयोग में लेना और समस्त प्रकार के बाह्य पदार्थों के प्रति जो आकर्षण है, परिग्रहण है, झुकाव है उसको छोड़ना इसे कहते हैं उत्तम त्याग धर्म। इसी को अपने जीवन में अपनायें तभी इस विकट संसार समुद्र से पार हुआ जा सकता है। इस सम्बन्ध में अनेक दृष्टान्त पुराणों में मिलते हैं। इन तीर्थंकर, चक्रवर्ती अथवा बड़े बड़े राजा महा-

राजाओं ने जब यहां के पर पदार्थों को असार लखा, उनसे अपना ममत्व हटाया, इन समस्त प्रकार के भोग साधनों को सदा के लिये तिलाँजलि दे दी, अपने आपके आत्म स्वभाव की शरण ली, तभी वे कल्याण के पात्र बन सके। मगर इस लोक में देखो इन्हीं पर पदार्थों के प्रति इतनी ममता की जा रही हैं, उन्हीं का ग्रहण किये हुए हैं और उन्हीं के पीछे सतत् प्रयत्नशील रहा करते हैं। अपना सारा जीवन भी उन्हीं के पीछे पड़कर बरबाद कर डालते हैं। अरे आत्मन् जरा विचार तो सही कि तेरा इन समस्त पर पदार्थों से कुछ सम्बन्ध भी है क्या ? अरे ये तो प्रत्यक्ष ही तेरे लिए विनाश के कारणभूत हैं। इनके विकल्पों को तू छोड़ दे, उनकी ओर आकृष्ट तू मत हो, तू तो अपने आपके चैतन्य स्वभाव की शरण ले, बस तेरे ऊपर मंडराने वाले समस्त संकट टल जायेंगे। इस त्याग धर्म के द्वारा ही इस मानव जीवन का उत्थान हो सकता है। इस जैन दर्शन की त्याग की ओर प्रवृत्ति कराने से ही महिमा है। यहां जितना धर्म होता है वह त्याग पूर्वक होता है, ग्रहण पूर्वक नहीं होता। मोही जीवों की बुद्धि तो परपदार्थों के अपनायत (संचय) की ओर रहा करती है, तो बतलाओ उन्हें अपने आपके स्वरूप का वास्तविक आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? उन्हें तो उसकी गंध भी नहीं मिल सकती।

यहां के सुख और दुःख भी त्याग और ग्रहण के आधार पर ही निर्भर हैं। जितना अधिक त्याग किया जायगा उतना ही अधिक सुख प्राप्त होगा और जितना अधिक पर पदार्थों के प्रति ग्रहण का, आकर्षण का, अपनाने का भाव होगा उतना उतना ही अधिक दुःख प्राप्त होगा ऐसा जानकर इस त्याग धर्म को अपनायें

और परपदार्थों के प्रति ग्रहण की, आकर्षण की, अपनायत की बुद्धि को छोड़ें, यह अपनायत तो महादुःखदायी है। कोई एक साधु था, वह हर जगह से भिक्षा मांग कर खाता पीता था। उसके पास परिग्रह किसी भी बाह्य पदार्थ का न था। एक बार किसी ने उससे कहा महाराज तुम खाते पीते हो तो कमसे कम अपने पीने के लिए एक कटोरा तो रखलो। उसने बहुत मना किया, पर उसके बार बार कहने से रख लिया। एक बार वह अपना कटोरा किसी जगह भूल से छोड़ गया और जंगल में पहुंचा। तो जब वह ध्यान करने बैठा तो उसे अपने कटोरे का ध्यान आ गया। अब तो ध्यान के समय उसे वही कटोरा दिख रहा था। ध्यान में चित्त न जमा। तो देखिये थोड़ा सा भी परिग्रह धर्म-साधना के लिए बाधक है। जब हम त्याग से हटकर ग्रहण में आवें तभी पता पड़ता है कि इस ग्रहण में बड़ा दुःख है।

हे आत्मन्, यदि इस ग्रहण में (परपदार्थों के आकर्षण में) सुख होता तो बड़े बड़े महापुरुष इन्हें छोड़कर त्याग मार्ग को क्यों अपनाते ? बड़े बड़े पुराण पुरुषों के चरित्र हम आपके सामने आते हैं कि जब तक ये इन पर पदार्थों की ओर ग्रहण की बुद्धि किये रहे तब तक वे बड़े विह्वल रहे, पर जब उन्होंने अपने आपके चैतन्यस्वरूप की शरण ली, समस्त परपदार्थों विषयक विकल्पों को तिलाँजलि दे दी, तब वे इस असार संसार सागर से पार हो गये। तो यह परमार्थ काम त्याग बिना कैसे बन जायगा ? ग्रहण करने के विकल्पों में पड़कर कैसे आत्मा का विकास हो सकेगा ? पंच परमेष्ठियों का स्वरूप इसी बात की तो याद दिलाता है, तभी तो हम आप उनकी भक्ति करते हैं, उनकी आराधना में रहा करते हैं। उनकी यह शान्त मुद्रा ही मानो यह शिक्षा दे रही है

कि हे आत्मन् ! त्यागकर, त्यागकर, त्यागकर । और यहां लोग क्या कह रहे हैं, ग्रहणकर, ग्रहणकर, ग्रहणकर। और भी प्रभु की मुद्रा क्या कह रही है ? मुझे शान्ति चाहिए, शान्ति चाहिए । और ये मोहीजन मानों क्या कह रहे हैं कि मुझे अशान्ति चाहिए, अशान्ति चाहिए, अशान्ति चाहिए । अब तीसरे विकल्प को उठाइये । मानों प्रभु यह कह रहे हैं कि हे आत्मन्, जब तक तुम धन वैभव आदिक बाह्य पदार्थों के संग्रह विग्रह में पड़े रहोगे, उनके प्रति अभिलाषायें बनाये रहोगे तब तक तुम्हारा परमार्थकाम बन नहीं सकता, और ये मोही-जन मानो क्या कह रहे हैं कि अरे इस धन वैभव के बिना तो मेरा काम चल ही नहीं सकता है; और भी एक विचार उठाइये। प्रभु कह रहे हैं कि इस धन सम्पत्ति में ही दुःख है, इस सम्पत्ति में ही दुःख है, और ये मोही जीव कहते हैं कि इसमें ही सुख है । तो अब बताओ, जहां ऐसी विपरीत बातें बनी हैं वहां किसी के चित्त में त्याग की बात घर कर सकती है क्या ? अरे इन खोटी अभिलाषाओं को, इच्छाओं को त्यागना होगा तब कहीं यह त्याग मार्ग का पाठ सीखा जा सकता है ।

हम अपनी प्रभु भक्ति में कहते तो और कुछ हैं और चाहें कुछ और ही, तो कैसे उस अभीष्ट चीज की प्राप्ति हो सकती है ? जैसे पढ़ते हैं ना :-

> जाँचूं नहीं सुरवास पुनिनरराज परिजन साथ जी ।
> बुध जाचहूँ तवभक्ति भव भव, दीजिये शिवनाथ जी ॥

अर्थात् हे प्रभो, मैं इन स्वर्गों का वास नहीं चाहता, मैं राजा महाराजा, चक्रवर्ती आदिक के पद भी नहीं चाहता और न यहाँ कुटुम्बीजनों का साथ चाहता हूँ । और, जब विनती पढ़ चुकते हैं तो क्या कहते हैं कि मेरी जो अमुक लड़की है ना, उसकी शादी हो

जावे, अथवा जो मेरा अमुक मुकदमा चल रहा है उसमें जीत हो जावे। शरीर का रोग ठीक हो जावे, आजीविका का साधन ठीक रहे, आदि लौकिक अभिलाषायें ही चित्त में बसाये रहते हैं। भला बतलाओ कहां तो प्रभु के समक्ष स्तुति करते समय क्या-बोलते हैं और अन्तर में क्या लौकिक फल चाहते हैं ? इस प्रकार अभीष्ट की सिद्धि न हो सकेगी। अरे यह त्याग धर्म हम आपको सिखाता है कि इन समस्त पर पदार्थों का ममत्व त्याग कर अपने ज्ञान-साम्राज्य में निवास करो, उसी में निवास कर अपने अनन्त आनन्द को प्राप्त करो। हे प्रभो, मुझे ऐसी ही ज्ञानानन्दमय स्थिति चाहिए जैसी आपकी है। ये स्वर्गों के सुख राजपाट धन वैभव मुझे कुछ नहीं चाहिए, परन्तु जहां केवल अपने आपका ज्ञान स्वभाव ही अपने उपयोग में रहता है बस ऐसी स्थिति ही मुझे चाहिए इस प्रकार की जो अपनी आराधना, साधना, उपासना बनायेगा उसको ही विदित होगा कि इस त्याग धर्म में कितनी शान्ति विद्यमान है। तो त्यागधर्म के लिये ग्रहण के व्यापार से हटें और अपने त्याग-मार्ग में आयें तभी त्यागधर्म के आनन्द का पता पड़ सकता है। मोही जीवों को तो इस त्याग के आनन्द की गंध भी नहीं मिल सकती है। आनन्द तो त्याग से ही प्राप्त होता है ग्रहण से नहीं। आनन्द प्राप्त करने का मार्ग तो निवृत्ति है न कि प्रवृत्ति।

जो स्वयं त्यागी नहीं है वह दूसरे को त्याग मार्ग का उपदेश ही क्या देगा ? और यदि उपदेश देगा भी तो उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। जो स्वयं ही ग्रहण सम्बन्धी विकल्प बनाये हुए हो, यदि वह किसी को त्याग का उपदेश दे तो उसका असर कैसे दूसरों पर पड़ सकता है ? जैसे एक स्त्री अपने बच्चे को लेकर किसी साधु के पास आयी और बोली महाराज, मेरा बेटा मीठा

वहुत खाता है, उसे कुछ ऐसी वात वता दो कि जिससे अधिक मीठा खाना छोड़ दे। तो साधू बोला—तीन दिन वाद आना तव वतायेंगे। वह स्त्री सोचती थी कि साधु महाराज कोई जंत्र-मंत्र दे देंगे जिससे यह अधिक मीठा खाना छोड़ देगा, सो तीन दिन वाद फिर पहुंची, वोली महाराज मेरे वेटे को कोई वात वता दो जिससे यह मीठा खाना छोड़ दे। फिर साधु वोला दो दिन वाद आना, फिर दो दिन वाद में पहुंची, तो साधू बोला कि देखो तुम अपने वेटे को मीठा देना ही वन्द कर दो, वस इसका मीठा खाना धीरे धीरे छूट जायेगा।—अरे महाराज यही वात कहनी थी तो वेकार ४–५ दिन टरकाकर हमें हैरान क्यों किया? पहिले ही यही वात कह देते। वेटी मैंने स्वयं ही मीठा खाने का त्याग नहीं किया था, इससे मैं उसे त्याग का उपदेश देने का अधिकारी न था। जव मैंने स्वयं ही दो चार दिन अभ्यास करके उसका त्याग कर दिया तव मैं उपदेश देने का अधिकारी वना। जो स्वयं त्याग मार्ग को अपनाये हो। उसी की वात का प्रभाव दूसरों पर पड़ सकता है।

त्यागमय जीवन ही एक आदर्श जीवन है। त्यागी पुरुष की मुद्रा ही हम आपको त्यागमय उपदेश दे देती है। भले ही वह त्यागी पुरुष मुख से न बोले, त्यागी पुरुषों की मुद्रा क्या शिक्षा देती है कि हे आत्मन्, तू वमन की हुई चीज का पुनः ग्रहण करने की क्यों इच्छा करता है? अरे यहाँ के विषयों के ये समागम, भोगसाधन, पंचेन्द्रिय के विषय न जाने कितनी कितनी वार भोग लिए होंगे। ये तो जूठन हैं। वमन किये हुए हैं। इनके पीछे तू क्यों बावला वन रहा है? अरे वमन किये हुए भोज्य पदार्थ का कोई पुनः भक्षण करना ठीक समझता है क्या? नही समझता, पर तू इन वमन किये हुए वाह्य पदार्थों को ही पुनः अपनाने की चेष्टा कर रहा है तो यह तो तेरे लिए मूर्खता भरी वात है। अरे जव उनका

त्याग कर दिया तो फिर उनका विकल्प क्या करना ? अब तो तेरा कर्तव्य है कि तूं इन भोगे हुए पदार्थों का विकल्प तज और इस त्याग मार्ग में आरूढ़ होकर अपने जीवन को सार्थक बना।

त्याग करने का प्रयोजन यह न होना चाहिए कि मुझे प्रतिष्ठा मिले, मुझे सुखसाधन प्राप्त हों। त्याग करने का प्रयोजन है अपने आपके अनन्त आनन्द की प्राप्ति करना। एक दृष्टान्त पौराणिक है भर्तृहरि और शुभचन्द्र ये दोनों भाई राजपुत्र थे। कारणवश जब दोनों को वैराग्य जगा तो बन को पयान कर गये। सो भर्तृहरि को मिल गया कोई तापसी सन्यासी का आश्रम और शुभचन्द्र को मिले कोई निर्ग्रन्थमुद्राधारी मुनिराज। सो दोनों भाई अपने गुरुवों के पास रहकर तपश्चरण करने लगे। उस तपश्चरण के प्रभाव से उनको ऋद्धियों की प्राप्ति हुई भर्तृहरि को तो स्वर्ण रस प्राप्त हुआ और शुभचन्द्र को जो अनेक ऋद्धियां मिलीं, उनका पता न उन स्वयं को भी था और न दूसरों को ही इसका पता था। जब भर्तृहरि को स्वर्ण रस की सिद्धि हो गई, तो उसकी खुशी का क्या ठिकाना था। जितना चाहे स्वर्ण वह बना सकता था। उसके मन में एक बार आया कि मुझे अपने भाई शुभचन्द्र का पता लगाना चाहिए कि वह इस समय कहां पर है और कैसी स्थिति में है। सो अपने शिष्यों को भेजकर पता लगा लिया। पता यह लगा कि वह तो अमुक स्थान पर बिल्कुल नग्न अकेला निर्जनस्थान में दरिद्रता से बास कर रहा है, इसकी खबर जब भर्तृहरि को मिली तो कुछ स्वर्ण रस एक तूमरी में भरकर अपने शिष्य को दिया और कहा कि जाओ हमारे भाई को इसे दे देना और कह देना कि इसे तुम्हारे भाई ने भेजा है, और इससे जितना चाहे स्वर्ण बनाकर अपनी दरिद्रता मेट लो। सो पहुंचा शिष्य शुभचन्द्र के

पास, ज्योंही वह स्वर्ण रस की तूमरी शुभ चन्द्र को देना चाही त्योंही उन्होंने हाथ से धक्का मारकर उसे गिरा दिया। सारा स्वर्ण रस वह गया, वह शिष्य दुःखी होकर फिर भर्तृहरि के पास पहुंचा और बोला—महाराज वह तो दीनता के साथ साथ पागल भी हो गया है, क्योंकि उसने तो सारा स्वर्णरस ही जमीन में वहा दिया। भर्तृहरि ने सोचा—हां हो जाता है ऐसा कि दरिद्रता आने पर दिमाग भी खराव हो जाता है। सो इस वार कुछ स्वर्ण रस लेकर स्वयं ही भाई के पास पहुंचा और वोला भाई मुझे स्वर्ण रस सिद्धि प्राप्त हुई है। इस स्वर्ण रस को लोहे से छुवाकर जितना चाहे स्वर्ण तैयार किया जा सकता है। सो अव तुम दुःखी मत हो, इस स्वर्ण रस को लो और इससे मनमाना स्वर्ण वनाकर अपनी दरिद्रता मेंट लो। तो भाई की इस तरह की वातें सुनकर शुभचन्द्र वोल उठे—अरे यदि तुम्हें स्वर्ण की ही चाह थी, इस पौद्गलिक वैभव की ही लालसा थी तो फिर राज्य क्यों छोड़ा था? अरे राज्यपाट को छोड़ने का उद्देश्य तो था आत्मसिद्धिप्राप्त करना। और शुभ चन्द्र ने क्या किया कि अपने पैर के नीचे से थोड़ी सी मिट्टी उठाकर पास की एक पाषाण शिला पर डाल दी तो वह सारी शिला स्वर्ण की वन गयी। इस वात को देखकर भर्तृहरि के ऊपर वड़ा प्रभाव पड़ा। उसी प्रसंग को लेकर शुभचन्द्र ने अपने भाई भर्तृहरि के निमित्त ज्ञानार्णव ग्रंथ की रचना की और शुभ चन्द्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। तो इस त्याग का प्रयोजन है शान्ति लाभ, आनन्द लाभ न कि यश प्रतिष्ठा, भोग साधनों की प्राप्ति आदिक। जहाँ शान्ति का प्रयोजन हैं वह ही त्याग प्रयोजन भूत है, नहीं तो वह ढोंग है, पाखण्ड है और यह समझिये कि वह अपने आत्मा को भी ठगने का साधन वनाना है। जिसे शान्ति चाहिए उसे त्याग की धुन वनाना चाहिए, अपने

को समस्त पर पदार्थों के विकल्पों से हटाकर अपने ज्ञान स्वभाव में मग्न करना, यही वास्तविक शान्ति का मार्ग है। यही त्याग धर्म की बात है, इस त्याग के द्वारा ही जीवन की सफलता है, और इस त्याग की योग्यता भी इसी मनुष्य पर्याय में ही है। अन्य किसी भी पर्याय में त्याग धर्म की पात्रता नहीं बन सकती हम आपको आज ऐसी योग्यता मिली हुई है, तो इन समस्त धनवैभव आदिक परपदार्थो का संसर्ग छोड़कर एक इस पवित्र त्यागधर्म को अपनायें और तीर्थ प्रवृत्ति चलायें। परपादार्थों के प्रति उठने वाले विकल्प विचार तरंगों को छोड़कर निर्विकल्प ज्ञायकस्वभावका अवलम्बन लें, यही उत्तम त्याग है।

उत्तम त्याग यही है कि ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में बने रहें लेकिन जब यह बात हम आपसे नहीं बन पा रही है तो इस व्यवहार धर्म को अपनायें, इस व्यवहार धर्म में यथायोग्य दान करना आगम में बताया गया है। तीर्थ प्रवृत्ति के निमित्त चार प्रकार के दानों को यथाशक्ति करते रहना चाहिए। दान किसे कहते हैं, सो तत्वार्थ सूत्र में उमा स्वामी महाराज ने कहा है कि 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गोदानं,' याने स्व और पर के उपकार के लिए जो भी अपनी सम्पत्ति का त्याग किया जाता है वह है दान। दान के चार प्रकार हैं—आहार दान, औषधि दान, ज्ञान दान और अभय दान। इन चारों प्रकार के दानों की निरन्तर प्रवृत्ति रखना चाहिए। हाँ इतनी सावधानी अवश्य रखना चाहिए कि एक तो योग्यपात्र को ही दान देना चाहिए, तभी उसका वह सदुपयोग समझा जायगा नहीं तों उसका भी दुरुपयोग ही समझिये। दूसरे आवश्यकतानुसार दान देना चाहिए, क्योंकि उसका सदुपयोग वहाँ पर ही हो सकेगा इस प्रकार की जो गृहस्थ दान की प्रवृत्ति रखता

है उसका ही दान देना फलीभूत होता है। कंजूस प्रवृत्ति के लोगों द्वारा बिना अन्तरंग भावों के दिया गया दान फलीभूत नहीं होता है।

इस पाये हुए धन का सदुपयोग यही है कि हम उसका यथायोग्य दान करते रहें, ऐसा न सोचें कि अभी तो दान न करें, पर आगे चलकर जीवन के अन्तिम समय में दान कर देंगे। अरे जब तक शरीर समर्थ है तब तक उस पाये हुए धन का सदुपयोग करते रहो आखिर उसे अन्त में छोड़ना तो पड़ेगा ही। तो उसे विवशता में न छोड़कर विवेकपूर्वक छोड़ने में ही अपनी भलाई है। नहीं तो अन्त में उस धन का वियोग होते समय बड़ा संक्लेश करना पड़ेगा। एक दृष्टान्त आया है कि कोई एक सेठजी थे, उनके चार लाख की जायदाद थी, सन्तान कोई थी नहीं, सिर्फ एक कन्या थी। एक बार सेठ बीमार हो गया, उसका बोल भी नहीं निकल रहा था। उसी कमरे में एक गाय की बछड़ी बंधी हुई थी और वह उसी जगह पर पड़ी हुई एक झाड़ू को मुख में भरे हुए चबा रही थी, सेठ ने उसे झाड़ू चबाते देखा, तो उसके मनमें आया कि लड़की को बुलाकर कह दें कि इस झाड़ू को बछड़े के मुख से छुड़ा दे, सो कन्या को इशारे से बुलाया और हाथ के इशारे से बछड़े की ओर को संकेत किया। तो वह कन्या उसका सही सही अर्थ न समझ सकी। उसने यह अर्थ लगाया कि पिता जी का यह कहना है कि हमारा तो अन्तिम समय आ गया है। देखो यहां इस जगह धन गड़ा है सो उसने झट उस जगह खुदवाना प्रारम्भ कर दिया, पर वहां कहां धन था? उस दृश्य को देख देखकर सेठ मन ही मन बहुत दुःखी हो रहा था पर वह बोल नहीं सकता था। सौभाग्य से जब सेठ ठीक हो गया तो कन्या से पूछा—

क्यों बेटा तुमने यह यह सारा कमरा क्यों खुदवा डाला ? तो उसने सारा हाल बताया। तब वह सेठ अपनी कन्या से कहता है कि यहाँ धन गड़ा है इसलिये मैंने इशारा नहीं किया था, किन्तु कोने में रखे हुए झाड़ू को गाय की बछड़ी चबा न डाले सो झाड़ू की रक्षा के लिए संकेत था। तो यह धन वैभव तो विछोह होने पर, नष्ट होने पर, बरबाद होने पर दुःख का ही कारण बनता है। अतः इससे ममत्व छोड़कर व इसको जीवन में यथायोग्य दान देकर इसका सदुपयोग कर लेना ही भली बात है।

देखो नदी निर्मल रहती है त्याग से। यदि नदी अपने उस समस्त जलप्रवाह को एक जगह संग्रहीत करती तो उसका जल गंदा रहता पर वह तो उस जल को बहाती रहती है। इसीलिये उसका जल निर्मल बना रहता है। अथवा जैसे यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि अगर कुँवे से जल खिचता रहे तो कुँवे का जल स्वच्छ रहता है अगर न खिंचे, न निकले तो वह जल गंदा हो जाता है इसी तरह अपनी कमाई हुई सम्पदा का सदुपयोग यही है कि उसका यथायोग्य दान करते रहें, अपने चित्त में उदारता का भाव रखें।

देखिये आजकल इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि जगह जगह धार्मिक शिक्षण केन्द्र खोले जावें और इनके पीछे जो भी खर्च हो उसकी पूर्ति समाज के दानदातारों के द्वारा की जाय। यदि इस ओर समाज का ध्यान गया तो यह उनके लिए एक बहुत बड़ी देन होगी। धर्म की परम्परा आगे चलती रहे इसके लिए धार्मिक शिक्षा केन्द्र खोलना आवश्यक है। नहीं तो आज के इस भौतिक बाद में न जाने इस उत्तम जैन धर्म की क्या गति होगी ? आज तो लोगों के हृदय से धार्मिकता की आस्था ही घटती जा रही है। लोगों के हृदय में बेईमानी, अन्याय, अत्याचार आदि

की बातें घर कर रही हैं, यही कारण है कि आज अपना देश पतन की ओर है। अभी तक जो भारत देश की प्रतिष्ठा अन्य देशों में भी होती थी वह किस बात से होती थी ? अरे यहां के नेता लोगों के अन्दर एक त्यागमय (बलिदानमय) अहिंसामय, सत्यमय भावना थी, पर आज इस भारत देश की क्या दशा हो रही है। नेताओं के अन्दर, अग्र कार्यकर्ताओं के अन्दर समस्त देशवासियों के अन्दर धार्मिकता, सदाचार, न्याय नीति का लोप हो रहा है। यही है हमारी दुर्दशा का कारण। इतना ही नहीं, और अन्य लोग भी इसे हड़पने की बात सोचा करते हैं। तो आज के इस बढ़ते हुए भौतिकवाद में धार्मिक शिक्षण संस्थायें खोलकर बच्चों में धर्म संस्कार डालने चाहिए। इन धार्मिक संस्थाओं के लिए साधर्मी बन्धुओं को चाहिए कि वे यथा योग्य दान देते रहें। दान देते समय इतना विवेक अवश्य रखें कि योग्य पात्र को दान दिया जाय और आवश्यकतानुसार दान दिया जाय। तो इस त्याग धर्म के दिन मूल में इतनी बात ग्रहण करना है कि इस जीवन का कुछ ठिकाना तो है नहीं कि यह कब समाप्त हो जाय। इसलिए पर वस्तुओं के ग्रहण संचय आदिक के विकल्प छोड़कर उत्तम त्याग धर्म को अंगीकार किया जाय, इससे खुद के जीवन का भी प्रकाश होगा, साथ ही समाज और देश का भी उत्थान होगा।

देखिये, न यह धन सदा पास में रहेगा और न यह धनका देने वाला (दातार) भी सदा यहां रहेगा। आखिर विछोह सबका होना ही है, इसलिए यह आवश्यक है कि इस आज के पाये हुए धन का यथा शक्ति दान देकर उसका सदुपयोग करें। एक बादशाह ने (अकबर बादशाह ने) एक बार अपने मंत्री (बीरबल) से प्रश्न किया कि ऐ मंत्री तुम एक बात बताओ कि मेरे हाथों की दोनों हथेलियों में रोम क्यों नहीं हैं, और जगह तो हैं। तो मंत्री

चतुर था, वह बोला महाराज आपके हाथों की हथेलियों के रोम दान देते देते झड़ गये हैं–अच्छा, और तुम्हारे हाथों की हथेली में रोम क्यों नहीं हैं ?—महाराज हमारे हाथों की हथेलियों के रोम दान लेते लेते झड़ गये हैं—अच्छा, दरबार में बैठे हुए सभी लोगों के हाथों की हथेलियों में रोम क्यों नहीं हैं ? तो मंत्री बोला आपने दान दिया, हमने दान लिया और ये सब यों ही हाथ मलते मलते रह गये इस लिए इनकी हथेलियों के रोम हाथ मलते मलते ही झड़ गये। तो भैया, कहने का अर्थ यह है कि यह धन तो छोड़ना ही पड़ेगा। इस धन के पीछे हैरान होने से, उसके संचय की बुद्धि बनाये रहने से लाभ कुछ न मिल पायगा, आखिर हाथ मलते ही रहना होगा। तो अच्छा यही है कि आज के इस पाये हुये धन सम्पत्ति के समागमों का यथायोग्य दान देकर इसका सदुपयोग करें।

एक बार एक राजमाता ने अपने बेटे से कहा–बेटे यह जो सामने पहाड़ दिख रहा है ना, इतना बड़ा यदि इतना धन का ढेर तुम्हारे सामने रख दिया जाय तो तुम उसे कितने दिन में दान कर दोगे ? वह राजपुत्र बोला-माँ हम तो उसे एक मिनट में ही दान कर देंगे, परन्तु ले जाने वालों की गारंटी नहीं कहते कि वे कितने दिनों में उसे उठाकर ले जायें। तो भावना अपनी होनी चाहिए उदारता की। इन धन-वैभव का उपयोग भोगों के लिए, साँसारिक मौजों के लिए, सांसारिक ऐश आरामों के लिए न करें, इसका सदुपयोग हैं दान देने में। धन का दान देकर इसे बटवीज वत धर्म के आयतनों में बो दें तो अवसर पाकर यह बड़ा लाभ देगा। जैसे बट का बीज बहुत छोटा होता है, पर उसे बो दिया जाय तो कभी अवसर पाकर वह बहुत बड़ा वृक्ष तैयार हो जाता है और उससे असंख्यात गुने बीजों की उत्पत्ति हो जाती है। ठीक

ऐसे ही इस धन को धर्मायतनों में दान देकर वो दिया जाय तो वह कभी बहुत बड़े फल को दे देता है।

श्रद्धापूर्वक दिया गया दान ही लाभकारी होता है। अतः अभी से अपनी शक्ति माफिक यथा योग्य दान करने की अपनी वृत्ति रखो, क्योंकि आज तो यह शरीर समर्थ है, जीवन के अन्तिम दिनों में न जाने क्या घटना बीते। कहीं दान देने के भाव होते हुए भी दान न कर सकें अतः हम आगे चलकर दान करेंगे, ऐसा सोचना ठीक नहीं। उचित यही है कि अभी से यथा शक्ति दान करने की अपनी वृत्ति रखें। एक दृष्टान्त है कि एक सेठ था, उसके चार बेटे थे। जायदाद ५ लाख की थी। सो कुछ दिनों में उन सब बेटों को एक एक लाख की जायदाद बांट दी और अपने लिये भी एक लाख की सम्पत्ति रख ली। जब सेठ मरणासन्न दशा को प्राप्त हुआ; बोल भी बन्द हो गया तो कुछ पंच लोग आये, बोले—सेठ जी अब तो आपका अन्तिम समय है, तो जो भी दान पुण्य करना हो कर जावो। तो सेठ हाथ के इशारे से दीवाल की ओर संकेत करता है। उसका मतलब यह था कि इस दीवाल में जितना भी मेरा धन गड़ा है वह सब इन धार्मिक संस्थाओं को दान करता हूँ। मगर उसके संकेत का अर्थ पंच लोग न समझ सके। बेटों को बुलाया और उनसे पूछा कि देखो पिताजी क्या कह रहे हैं। तो बेटे कहते है कि पिताजी भींत की ओर इशारा करके यह फरमा रहे हैं कि हमारे पास जो भी धन था वह सब इन भींटों के बनाने में लगा दिया। बेटों की बात सुनकर वह सेठ मन ही मन कुढ़ रहा था, पर क्या करे? बोल सकता नहीं था। तो देखिये अन्त में दान करने का भाव होते हुए भी सेठ दान न कर सका। तो हम आपको भी ऐसा सोचना योग्य नहीं कि अन्त में सब दान कर देंगे। अरे अभी से ही

जो कुछ हो सके दान करते रहना चाहिए।

देखिये-इन बाहरी वैभव आदिक समागमों के होने अथवा न होने पर निर्धनता और धनिकता निर्भर नहीं है, क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि जो यहां कोई बड़ा धनिक है वह यदि अपने मन में तृष्णा बसाये हुए है, पर पदार्थों का संग्रह विग्रह संचय करने का ही लोभ चित्त में बसाये हुए है तो वह तो रात दिन दुःखी रहता है। उसके समान निर्धन और किसे कहा जाय ? और यदि कोई यहां ऐसा है कि जिसके पास मामूली सी ही स्थिति है, किसी तरह से अपना गुजारा चलाता है, पर अन्तः तुष्ट है, संतुष्ट है, तो वह महा धनिक है। एक दृष्टांत है कि कोई मुनिराज जंगल में तपश्चरण कर रहे थे। उनकी निर्ग्रन्थ मुद्रा देखकर राजा ने सोचा कि यह तो बहुत दरिद्र है। इसके पास कुछ नहीं है। हमें इसकी मदद करना चाहिए । तो राजा ने अपने चपरासी को १०००) देकर कहा—जाओ अमुक दरिद्री को ये रुपये दे आओ। जब चपरासी पहुंचा और मुनिराज से बताया कि राजा ने तुम्हारे लिए १०००) भेजा है इन्हें लो और अपनी दरिद्रता मेंट लो। तो मुनिराज बोले—इन्हें गरीबों को बांट दो। चपरासी लौटकर राजा के पास पहुंचा—बोला महाराज—वह दरिद्री तो कहता है कि इन्हें गरीबों को बांट दो। तो राजा ने सोचा कि शायद ये रुपये कम हैं इसलिए इस तरह से कह दिया है। दूसरी बार २०००) देकर चपरासी को भेजा तो उस बार भी वही उत्तर मिला। फिर चपरासी राजा से जाकर वही बात कहता है। तो राजा सोचता है कि हमने चपरासी को भेजा है इसलिए वह दरिद्री इन रुपयों को न ले रहा होगा। तो इस बार राजा स्वयं ही २ लाख रुपये लेकर पहुंचा और कहा कि ये रुपये लीजिये और अपनी गरीबी दूर कर लीजिये। तो मुनिराज ने

फिर वही बात कही कि ये रुपये गरीबों को बांट दो ।—अरे तुमसे अधिक गरीब और कौन मिलेगा ?—अरे राजन् तुम हमें नहीं जानते, हम तो श्रीमन्त हैं, हमारे पास अनन्त वैभव का खजाना है ।—अरे कहां है ।—वह अनन्त वैभव का खजाना, मुझे चाबी दे दो । मैं भी जाकर देख लूं ।—अरे कुछ दिन यहां रहना होगा तब उसे देख सकोगे ।—हां हां रहेंगे । जब कुछ दिन मुनिराज के पास वह राजा रह लिया, कुछ धर्म का उपदेश मुनिराज उसे देते रहे । कुछ दिन बाद मुनिराज बोले—अच्छा अब तुम्हें देखना है हमारा खजाना ।—हां हां, अच्छा हमारे जैसे ही बन जाओ । (राजा ने सोचा कि विधि ही यही होगी खजाना देखने की) तो राजा मुनि बन गया । कुछ दिन तक वह उपदेश सुनता रहा । फिर कुछ दिन बाद में मुनिराज बोले—राजन् अब तुम्हें चाहिए धन सम्पदा ? तो वह पूर्व राजा बोला—नहीं अब नहीं चाहिए वह वैभव, अब तो मुझे अपने अनन्त वैभवसम्पन्न अंतः साम्राज्य का पता पड़ गया । मुझे रत्नत्रय के खजाने का पता पड़ गया । तो देखिये—किसी की बाहरी स्थिति को देखकर यह निर्णय नहीं दिया जा सकता कि यह श्रीमन्त है अथवा दरिद्र । ये तो बाह्यस्थितियाँ हैं उसकी निर्भरता तो अंतरंग भावों के आधार पर है ।

तो हमारी दृष्टि ऐसी बने कि जहां इन बाहरी पदार्थों की चाह न हों, इनके प्रति मूर्छा, ममता, तृष्णा न हो । उनसे लिप्त न हों, क्योंकि इन परपदार्थों का संग हम आपके लिए महान दुःखदायी है । अगर यहां पर पदार्थों का संग दुःखदायी न होता तो बड़े-२ तीर्थंकर चक्रवर्ती आदिक महापुरुष उन्हें छोड़कर निर्ग्रन्थता को क्यों अंगीकार करते । और यह वैभव लक्ष्मी तो ऐसी है कि

इसको छोड़ो तो यह पीछे लगती है, और ग्रहण करो तो यह दूर भागती है। देखो ना जब तीर्थंकर देव, इन समस्त विभूतियों को छोड़ते हैं तो कैसी वह साथ लगी फिरती है, पीछा नहीं छोड़ती है। देखिये समवशरण में कितनी कितनी विभूतियां होती हैं। पर प्रभु उसके चार अंगुल ऊपर उससे अलिप्त रहते हैं। बैठने की ही बात क्या, प्रभु जब विहार करते है तो उस समय भी यह लक्ष्मी आगे आगे चलती है। तो यह सब माहात्म्य उनके त्याग का है। इस धन का त्याग करने से इस लोक में भी अपना भला होता है और परभव के लिए भी अपना भला होता है। इसलिए हमें चाहिए कि इस त्यागधर्म को अपनावें, इस त्यागधर्म की ही—आराधना करें और उसकी ही उपासना करके अपने को उज्जवल बनायें।

हाँलाकि इन धन वैभव आदिक बाह्य पदार्थों में कुछ ऐसी ही कला है कि जिससे बड़ों-बड़ों का मन ललचा जाता है। साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है। बड़े-२ ज्ञानी पुरुषों तक का मन उसके पीछे बिगड़ जाता है, पर विवेक यही है कि इनको मायामयी असार, अहित करने जैसा समझकर इनकी उपेक्षा करें। उनका त्याग करें, इसी में हम आपकी भलाई है। जैसे कि एक दृष्टान्त दिया है कि एक बार गुड़ भगवान के पास गया (होंगे कोई वैसे ही भगवान) और बोला—महाराज हम पर बड़ी विपत्ति है—क्या विपत्ति है?—अरे जब हम खेतों में खड़े थे, गन्ना के रूप में थे तो लोगों ने मुझे पटा पटा करके चूसा, वहां से बचे तो कोल्हू में पेलकर मुझे पिया, फिर राब बनाकर खाया, फिर गुड़ बनाकर खाया। और फिर वहां से भी बचे तो लोगों ने तम्बाखू में डाल डालकर खाया, तो महाराज हमपर बड़ी विपत्ति है, इसका आप

न्याय करें। तो भगवान बोले—तुम्हारे लिए न्याय यही है कि तुम मेरे सामने से हट जाओ, क्योंकि तुम्हारी बातें सुनकर मेरे मुख में भी पानी आ गया। तो बात यह कही जा रही है कि यह धन वैभव, ये बाह्य मायामयी पदार्थ होते हैं ऐसे, कि जिनकी ओर बड़े बड़े लोग भी आकृष्ट हो जाते हैं, पर विवेक पूर्वक इन्हें त्यागने में ही हित है।

आज उत्तम त्याग का (दान) दिन है। अतः चारों प्रकार के दानों का (त्यागों का) फल दृष्टान्तपूर्वक बताते हैं।

१—आहार दान का फलः—रत्नसंचयपुर के राजा श्रीसेण बड़े धार्मिक पुरुष थे। एक बार उन्होंने दो मुनियों को (आदित्यगति और अरंजय) बड़ी श्रद्धा भक्ति से आहारदान दिया। तो देवो ने प्रसन्न होकर अपार रत्नवर्षा उनके घर के आंगन में की और श्रीषेण राजा षोडश कारण भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर, प्रकृति का बन्ध करके सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ हुए। भगवान शान्तिनाथ तीर्थंकर थे, कामदेव थे और चक्रवर्ती थे। तो आहारदान की ऐसी महिमा है। अतः प्रत्येक श्रावक को योग्यपात्र को आहारदान दे कर अपना कल्याण करना चाहिए।

२—औषधि दान का फलः—अर्द्धचक्री नारायण कृष्ण की राजधानी द्वारिका में एक मुनि पधारे। उन्हें कोई भीषण रोग हो गया था। कृष्ण को उनका रोग देखकर बड़ा दुःख हुआ था। इस चिन्तन में पड़ गये कि मुनिराज का रोग अब कैसे दूर हो। आखिर एक वैद्य ने एक दवा दी और कहा इसे लड्डू में दे देना। सो कृष्ण ने उस दवा वाले बहुत लड्डू बनवाकर सारे नगर में बटवा दिये, इसलिए कि मुनिराज

चाहे नगर के किसी भी घर आहार करें, वहां लड्डू का ही आहार दिया जायगा। सारे नगर में यह सूचना कर दी गई कि मुनिराज जिस घर भी जावें, उन्हें लड्डू का आहार दिया जाय। अब मुनिराज जिस घर जावें उसी घर लड्डू मिलें। फल यह हुआ कि ८ ही दिनों में उनका रोग दूर हो गया। तो रोग जैसे जैसे दूर होता जाता था वैसे ही वैसे कृष्ण के मन में हर्ष बढ़ता जाता था। वे निरन्तर षोडशकारण भावना भाते रहते थे। फलतः उस औषधि दान के निमित्त से उनको तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। तो औषधि दान का यह माहात्म्य है। अतः योग्य पात्र को इस उत्तम औषधि दान को देकर पुण्य फल का संचय करना चाहिए।

३—शास्त्रदान:—कोई एक गोविन्द नाम का ग्वाला था। उसे कहीं से एक ग्रन्थ किसी जंगल में वृक्ष की कोटर में मिल गया था। उस ग्रन्थ को उसने पद्मनन्दी मुनि को दे दिया था सो उस ग्रंथ को भेंट करने के फलस्वरूप वह आगे चलकर कुन्द-कुन्दाचार्य देव बना और श्रुत केवली बना। तो शास्त्र दान की ऐसी अद्भुत महिमा है। अतः प्रत्येक कल्याणार्थी को शास्त्रदान करने का भाव होना चाहिए।

४—अभय दान का फल—अनंगसरा नाम की एक राज-कन्या थी। उसे कोई विद्याधर हर ले गया था। वह विद्याधर मार्ग में उस कन्या को लिए जा रहा था तो कुछ लोगों ने देखा और उसका पीछा किया। तो एक भयानक जंगल में वह विद्याधर उस कन्या को छोड़ गया था। उस जंगल में उस कन्या ने ३००० वर्ष बिताये। बाद में जब उसके पिता को पता चला, आया तो देखा कि वह तो अजगर सर्प के मुख में थी। शरीर का आधा अंग अजगर

निगल गया था। जिस समय उसके पिता ने उस सर्प को मारकर अपनी कन्या को बचाने का प्रयत्न किया तो उस कन्या ने उस अजगर सर्प को अभयदान दिया। बोली—इस भोले जीव को मत मारो। आखिर उस अभयदान का फल यह हुआ कि मरकर वह विशल्या बनी। जिसका इतना माहात्म्य था कि जिसके शरीर के स्पर्श किये हुए जल से स्नान करने से सब रोग दूर हो जाया करते थे। तो यह था उसके अभयदान का फल। अतः प्रत्येक कल्याणार्थी को अभयदान देकर अपने जीवन को कल्याण के पथ पर लगाना चाहिए। देखिये बिना दान दिये तो किसी के जीवन की गाड़ी ही नहीं चल सकती।

अरे संसार दुःखों से भरा है, तीर्थंकर आदिक ने इसका त्याग करके शिवका साधन बनाया। कहा भी है कि—

जो संसारविषें सुख हो तो, तीर्थंकर क्यों त्यागे ?
काहे को शिव साधन करते, संयम सों अनुरागे ।।

बिना त्याग किये तो यहां भी कोई काम नहीं चलता। एक दृष्टान्त आया है की किसी साधु को एक नदी पार करके किसी नगर जाना था। उसके पास नाविक को नदी पार उतराई के लिए पैसे देने को नहीं थे। सो वह वहीं नदी के किनारे खड़ा था। इतने में कोई भक्त पुरुष आया उससे साधु बोला—भैया हमें अमुक गांव जाना है, नदी पार करने के लिए हमारे पास पैसे नहीं हैं? तो भक्त ने कहा हम नाविक को पैसे देंगे, आप हमारे साथ चलें। सो दोनों नदी पार हो गये। आगे चलकर वह भक्त कहता है कि महाराज आप तो एक त्यागी हैं, साधू हैं और आप ही उपदेश में कहा करते हैं कि त्याग से संसार समुद्र को पार

कर लिया जाता है, पर आप तो एक छोटी सी नदी भी न पार कर सके, तो क्या कारण है ? तो साधु बोले अरे तुमने चार आने पैसे त्यागे तो इस त्याग की वजह से ही तो नदी पार हुए । भक्त की समझ में आ गया । त्याग से ही सर्व कार्यों की सिद्धि होगी। त्यागमय जीवन ही वास्तविक जीवन है ।

अन्त में एक विशेष बात यह है कि बड़े लोगों की देखा देखी ही छोटे लोग करते हैं । अस्तु आप लोगों को त्याग मार्ग में बढ़ना चाहिए । आज साहित्य प्रचार और शिक्षा दान की बहुत अधिक आवश्यकता है ताकि विदेशों में भी साहित्य प्रचार हो। जगह-जगह बाल धर्म-शिक्षा सदन खोले जावें, इसलिए ज्ञान दान की प्रवृत्ति करनी है। इस ज्ञान दान से केवल-ज्ञान की प्राप्ति होती है । धर्म मार्ग पर चलने से ही शान्ति मिलेगी, धन सम्पति आदि वाह्य पदार्थों के मिलने से नहीं । संसार में जो भी दुःखी जीव हैं उन्हें दान देकर उनका दुःख दूर करें । जो ज्ञानी पुरुष हैं उनका विशेष सत्कार करें और इन वाह्य क्रियायों के अतिरिक्त सबसे प्रधान बात यह है कि आतमा का निसंग-स्वरूप पहिचान कर अपने असाधारण ज्ञान स्वभाव को लक्ष्य में रखें । यही उत्तम त्याग है । पूजन में भी पढ़ते हैं—

दान चार परकार, चार संघ को दीजिये ।
धन बिजली उन हार, नरभव लाहो लीजिये ।।

उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषधि शास्त्र अभय आहारा।
निहचै रागद्वेष निरवारै, ज्ञाता दोनों दान सम्हारै ।।

दोनों सँभारे कूपजलसम, दरव घरमें परिनया।
निज हाथ दीजे साथ लीजे, खाय खोया वह गया॥
धनि साध शास्त्र अभय दिवैय त्याग राग विरोध को।
विन दान श्रावक साधु दोनों, लहें नाहीं वोध को॥

(ॐ ह्रीं उत्तम त्यागधर्माङ्गायनमः)

उत्तम आकिंचन्य

आज आकिंचन्य धर्म की वात चलेगी। 'न किंचनः इति आकिंचनः, तस्यभावः आकिंचन्यं,' मेरा मेरे से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इस भाव को कहते हैं आकिंचन्य। यह उत्तम आकिंचन्य धर्म उन ही जीवों के होता है जिन्होंने समस्त प्रकार के वाह्य और अंतरंग परिग्रहों का त्याग करके अपने आपके विशुद्ध ज्ञान स्वरूप को दृष्टि में लिया है, अनुभव में लिया है, ऐसे जो परम निर्ग्रन्थ मुनि हैं उनके यह उत्तम आकिंचन्य प्रकट होता है, अर्थात् इस ज्ञान दर्शन स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नहीं है, अन्य किसी भी परद्रव्य का मैं कुछ भी नहीं हूँ, ऐसे अनुभव को आकिंचन्य कहते हैं। आत्मा जो अन्य परपदार्थों से चाहे वे चेतन हों अथवा अचेतन, ममता कर रहा है, यह सब अज्ञानता की वात है, और इसी अज्ञानभाव के कारण ही हम सकिंचन वनकर यत्र तत्र डोल रहे हैं, ममता से किसी को अपना मान रहे हैं। तो ऐसी खोटी मान्यता से वह पर अपना नहीं वन सकता, प्रत्येक वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि कोई पदार्थ किसी पदार्थ का कुछ

लगता नहीं है। सब पदार्थ अपना-अपना न्यारा-न्यारा स्वरूप रख रहे हैं। जितनी भी वस्तुयें हैं संसार में वे सब स्वतन्त्र-२ हैं, निराली-निराली हैं, भिन्न-भिन्न हैं। अपने आपके स्वरूप रूप हैं, परस्वरूप रूप नहीं हैं। तो यहाँ अपने आपके आत्मस्वभाव का कुछ निर्णय करें और सोचें यह मैं आत्मा किस परस्वरूप हूं, अथवा किसी पर आत्मा के साथ इस मुझ आत्मा का क्या सम्बन्ध है? और उस पर ममता बुद्धि करके सकिंचन बना हुआ हूँ, और उससे फिर दुःख प्राप्त कर रहा हूं।

जीव की सबसे अधिक निकटता है इस शरीर से। इस शरीर से भिन्न अपने आपके ज्ञानदर्शन स्वरूप को दृष्टि में लो, यह शरीर तो रूप-रस-गंध-स्पर्श का पिण्ड है, पौद्गलिक है, आहारवर्गणाओं से निर्मित है, यह मेरा स्वरूप नहीं हो सकता। और मैं इस शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप मात्र हूँ। ज्ञानपुंज हूँ। ऐसे अपने आपके विविक्त ज्ञान स्वरूप को अनुभव में लेना, प्रतीति में लेना इसे कहते हैं आकिंचन्य। जिसको यह आकिंचन्य धर्म होता है उसका बाह्य फलित अर्थ यह हुआ करता है कि इन बाह्य परिग्रहों का अभाव हो जाता है। छूट जाते हैं ये बाह्य परिग्रह और वाह्य परिग्रह से छूटने से कुछ यह भी अभ्यास होता है कि वह अंतरंग परिग्रहों को भी त्यागने का उद्यमी बनता है। यह बात यहाँ नहीं बन सकती कि केवल बहिरंगपरिग्रह ही छूटे हों। अरे ये वाह्य परिग्रह भी अंतरंग परिग्रह त्याग से छूटते हैं और अंतरंग परिग्रह भी बहिरंगपरिग्रह त्याग पूर्वक छूटते हैं। इस प्रकार के अपने आपके निश्परिग्रह स्वरूप को दृष्टि में लेना कि मेरा लोक में कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। जब यह शरीर भी मेरा नहीं है तो फिर अन्य कोई पर पदार्थ तो मेरा हो ही कैसे सकता

है ? ऐसे अपने आपके आत्मा के स्वरूप को दृष्टि में लेकर समस्त प्रकार के परिग्रहों से पृथक् अपने इस ज्ञानज्योतिमात्र स्वरूप को दृष्टि में लेना, तभी होता है यह आकिंचन धर्म । वार वार चिन्तन कीजिये इस आकिंचन्य भाव को । आकिंचन्य स्वरूप की ही भावना हो तो फिर ये दुःख न रहेंगे । आज संसार में हम आपकी जो ये नाना दुःखभरी दशायें दिख रही हैं इनका मूल कारण क्या है ? यही है कि हमने आपने अपने को अभी तक सकिंचन अनुभव किया, अपने आकिंचन्य स्वरूप का अनुभव नहीं किया । यहां अपने आपके इस ज्ञानदर्शन स्वरूप के अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं हैं । ये दिखने वाले समस्त मायामयी पदार्थ तो पौद्गलिक पिण्ड हैं, ये मेरे कुछ नहीं हैं, पर पदार्थों को ही मान लिया कि ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ, अथवा इन ही रूप मैं हूं, वस इस प्रकारके सकिंचन भाव वना लेने के कारण ही तो आज हम आपकी ये दशायें हो रहीं हैं । अव तो ऐसा निर्णय वना लीजिये कि लोक में परमाणुमात्र भी मेरा कहीं कुछ नहीं है । मैं तो एक हूँ, ऐसा हूँ कि इस एकत्वस्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश, न आज तक कभी हुआ, न हो रहा है और न कभी हो सकेगा । ऐसा समस्त परभावों से और परपदार्थों से पृथक् जो अपने आपके इस अकिंचन स्वरूप को दृष्टि में लेता है उसे ही अपने उस परमात्मतत्व के दर्शन होते हैं ।

गुणभद्राचार्य स्वामी ने एक जगह आत्मानुशाषन में शिष्य के ऐसा प्रश्न करने पर कि महाराज हमें तो संक्षेप में वता दीजिये कि परमात्मतत्व की प्राप्ति का रहस्य क्या है ? जिनेन्द्र भगवान वनने का उपाय क्या है ? उसके उत्तर में गुणभद्राचार्य जी कहते हैं कि—

अकिंचनोऽहंमित्यास्वत्रैलोक्याधिपतिर्भवैः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥

अर्थात् वे कहते हैं कि 'अकिंचनोऽहं'। इस भाव को लेकर तुम बैठ जाओ एकान्त में। अपने आपको ऐसा चिन्तन करो कि अकिंचनोऽहं अर्थात् इस ज्ञानदर्शन स्वरूप मुझ आत्मा के अतिरिक्त लोक में परमाणु मात्र भी मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं हूँ, अपने ही स्वरूप से हूँ अपने ही स्वरूप से परिणमता हूँ, ऐसा अपने आपके आकिंचन भाव को अपने प्रत्यय में लेकर कुछ क्षण के लिए विश्राम से बैठ तो जाओ, बस यही त्रैलोक्याधिपति बनने का उपाय है। देहातों में जैसे कहते हैं ना कि टन्नाकर बैठ जाओ, ऐसे ही यहां अकिंचनोऽहं, इस भाव को लेकर ही टन्नाकर बैठ तो जाओ। जैसे बच्चे लोग कभी रिसा जाते हैं किसी बात से, तो वे टन्नाकर बैठ जाते हैं, उनकी मां बहुत समझाती है, पर वे उसकी बात नहीं सुनते। ठीक इसी तरह से इस अकिंचनोऽहं भाव का चिंतन करने के लिए टन्नाकर बैठ जाओ। उतने समय तक किसी भी परपदार्थ को अपने उपयोग में न आने दो, बस यही चिन्तन निरन्तर चलता रहे कि इस लोक में परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। मैं तो मात्र ज्ञानस्वरूप हूं, एक हूँ, अनन्त आनन्द का पिण्ड हूँ, बस इस चिंतन में टन्नाकर बैठे रहने का इतना अधिक प्रताप है कि यह भाव त्रैलोक्याधिपति बना देगा। योगियों ने परमात्मा होने का रहस्य यह ही कहा है।

इसके विपरीत अज्ञानीजनों के भाव देखिये कि उनकी दृष्टि बाह्य पदार्थों की ओर रहती है। वे मानते हैं कि ये परद्रव्य तो मेरे हैं, मैं इनका हूँ, अथवा इन जैसा ही तो मैं हूँ। यों उनकी इस तरह की भावना होने के कारण उनके पीछे जीवन भर दुःखी रहा करते हैं। अरे इन मिथ्या मन्यताओं को अपने अन्दर से निकालना होगा, और ऐसा भाव बनाना होगा कि मेरा कहीं कुछ

नहीं है, मैं तो अपने आपके एकत्व में सदा रहता हूँ और रहूँगा, ऐसी अपने आपमें ज्ञान भावना जगा करके स्थिर होना है, इसी के यत्न में लगना है ऐसी ही तल्लीनता बनाना है। जितने भी जीव आज तक निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, इसी उपाय से हुये हैं। और हमें भी यदि निर्वाण जाना है तो हमें चाहिए कि हम भी यही उपाय करें कि मेरा यहां कहीं कुछ नहीं है। अभी हम आप यहां बैठे हैं, सोच लीजिये कि हम आपको कौन यहाँ पकड़े है ? कौन बाँधे हैं और कौन है यहां हम आपका ? पर आप ही मिथ्या कल्पनायें बनाकर अपने को परतंत्र अनुभव करते हैं। आप मानते हैं कि मैं अमुक का पिता हूं, अमुक जाति का हूँ, अमुक नाम वाला हूँ, ऐसे रूप का हूं, इस कुल वाला हूँ, ऐसे परिवार वाला हूँ, ऐसे ठाठ वाला हूं। ऐसी पोजीशन वाला हूँ, मूर्ख हूं आदि, बस इस ही मिथ्या मान्यताओं के कारण ऐसी पर्याय बुद्धि के कारण आप अपने को परतन्त्र अनुभव कर रहे हैं। दुःखी बना रहे हैं।

अरे इस पर्याय बुद्धि को अपने आपके स्वरूप के एकत्व में मत जोड़ो, यही जोड़ना है मूल में परिग्रह। परिग्रह का लक्षण है 'मूर्छा परिग्रहः' इस मूर्छा परिणाम का होना ही इस जीव का परिग्रह है। पर पदार्थों के प्रति इस प्रकार का आशय रखना कि ये मेरे हैं, ही तो परिग्रह है। देखो न इस ममेदम् भाव के कारण ही तो यह दुःखी बना हुआ है। इस पर जन्म-मरण के संकट चल रहे हैं। बात तो है जरा सी और उसका परिणाम कितना भयंकर मिल रहा है कि ज्ञानानन्द स्वरूपी आत्मा होकर भी आज भवभव में नाना कुयोनियों में पड़कर दुर्गतियों का पात्र बनता फिर रहा है और महा दुःखद यातनायें सह रहा है। बात तो जरा सी और संकटों का भार लाद लिया इतना। वह बात जरा सी कौनसी

है?—भ्रम।—अरे आत्मन् अब तो अपने आप पर कुछ करुणा करो। अपने आप पर करुणा यही है कि जिस भ्रम के कारण आज इतनी इतनी यातनायें सहन करनीं पड़ रहीं हैं उस भ्रम को, उस मिथ्याबुद्धि को, खोटी मान्यताओं को छोड़ें, अपने चैतन्य-स्वभाव को समस्त परभावों से विविक्त अनुभव करें। अपने आपको उस ज्ञान स्वरूप में बसायें, यही है संयम, यही है चारित्र, यही है तप, यही त्याग और यही है उत्तम आकिंचन्य।

इस आकिंचन्यभावना से जो च्युत हैं उन्हें यह धर्म की बात घर नहीं कर सकती। देखो जिनके चित्त में परिग्रह के संचय की बात बसी है वे क्या आत्म साधना कर सकते हैं ? अरे जरा भी परिग्रह जब धर्ममार्ग में बाधक हुआ करता है तो फिर जहाँ परिग्रह के संचय की बात चित्त में समायी हुई हो तो फिर वहां धर्म धारण करने की पात्रता कैसे सम्भव है ? देखिये कहते हैं ना कि—फांस तनिक सी तन में साले, चाह लंगोटी की दुःखभाले।

अर्थात् जब एक लंगोटी की चाह भी इस जीव के लिए परिग्रह का कारण बन जाती है जैसें कि एक साधु को लंगोटी की रक्षा के लिए किस तरह बिल्ली, गाय, दासी आदि का संयोग जुटाना पड़ा और उसका जीवन विडम्बनाओं में (विपत्तियों में) पड़ गया। तब फिर जहां नाना प्रकार के संकल्प विकल्प कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भाव अहंकार आदि के परिणाम बनते हैं और परिग्रह के संचय करने की जहां वासना बनी हुई है, अंतरंग में जहां पर पदार्थों के संचय के प्रति लोभ झलक रहा हो वहां न जाने इस जीव की क्या हालत होगी न जानें इसे कितनी परेशानियों में पड़ना पड़ेगा। धर्मध्यान की पात्रता तो इन आरम्भ परिग्रह आदि बाह्य पदार्थों का संसर्ग, कर्तृत्वभोक्तृत्व, अहंकार, ममकार आदि

बुद्धियों से हटकर ही प्राप्त हो सकती है। सो हे आत्मन्, अब तो अपने उस समस्त परसे विविक्त ज्ञान स्वरूपमात्र आत्म-तत्व को निरख ,

देखो–भरत महाराज के पास कितना वैभव था, आखिर वह चक्रवर्ती ही थे, छह खंड का वैभव उनके पास था, एक बार किसी पुरुष के मन में आया कि देखो भरत के पास है तो इतना इतना वैभव; इतना आडम्बर फिर भी इनके प्रति ऐसी प्रसिद्धि है कि वे बड़े धर्मात्मा हैं, घर में भी वैरागी हैं, तो यह कैसे सम्भव है, कि इतने इतने आडम्बरों के बीच रहकर भी धर्मधारण करने के पात्र बन सके हों। तो वह अपनी इस शंका को मेटने के लिए भरत के पास पहुंचा, अपनी शंका उनके सामने रखी, तो भरत ने उस समय कोई जवाब तो न दिया पर कहा कि देखो पहिले तुम एक काम करो तब तुम्हें जवाव देंगे।–क्या करें ? –एक कटोरे में लबालब तेल भर दिया और देते हुए कहा कि लो, इसे लेकर नगर का पूरा चक्कर लगा आओ। इसकी एक भी बूंद जमीन पर न गिरने पावे, और नगर का सारा हाल भी हमको बताना। यदि एक बूंद भी तेल जमीन में गिर गयी तो तुमको मौत के घाट उतार दिया जायगा। जाओ इतना काम कर आओ फिर हम तुम्हें जवाब देंगे। वह पुरुष तेल भरे हुए कटोरे को लेकर सारा नगर घूम आया पर उसकी दृष्टि बराबर उस कटोरे की ओर ही रही, क्योंकि उसे अपने प्राण जाने का भय था। आखिर जब वह लौटकर भरत के पास आया तो भरत ने पूछा–बताइये नगर में कहां क्या हालचाल है ? तो उसने कहा महाराज मैंने सारा नगर घूम डाला पर मेरी दृष्टि एक इस कटोरे की ओर ही रही। तो भरत उत्तर में बोले बस यही तो तेरे उस प्रश्न का उत्तर है। समस्त वैभवों के बीच रहकर भी

मेरी दृष्टि उस विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वरुप आत्मतत्व की ओर रहा करती है। इसलिये सब लोग हमें धर्मात्मा कहते हैं, और हम घर में भी वैरागी हैं।

तो ज्ञानीजन, धर्मात्माजन, इस बाह्य परिग्रहों के बीच रहा करते हैं फिर भी वे अपने आपके उस विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वरूप आत्मतत्व में रुचि होने के कारण उन बाह्य पदार्थों के संसर्ग में मग्न नहीं हुआ करते। उनकी दृष्टि, उनकी प्रतीति उनकी अभिरुचि एक उस ज्ञानस्वभाव की ओर ही रहा करती है। जहाँ देह से, कर्ममल से, रागादिक विकारों से, समस्त परपदार्थों से भिन्न अपने आपके आत्मस्वरुप की दृष्टि हुई वहाँ इन पौद्गलिक बाह्य पदार्थों में तन्मयता की बुद्धि कहाँ से हो सकती है? जहाँ इस प्रकार की बुद्धि बनी हो कि यह देह मेरी है, ये बाह्य पदार्थ (धन, दौलत, स्त्री पुत्रादिक समस्त पर पदार्थ) मेरे हैं बस वहाँ ही क्षोभ है। यही उसके लिए परिग्रह है। इनके प्रति कर्तृत्वबुद्धि होने के कारण उनकी व्यवस्था बनानी पड़ती है। ऐसा परपदार्थों के प्रति जहाँ मूर्छा का परिणाम बना हो वहाँ यह आकिंचन्य भाव कहाँ से बन सकता है। बाहरी पदार्थों के संसर्ग का, संचय का नाम परिग्रह नहीं किन्तु बाहरी पदार्थों के प्रति जो ममत्वबुद्धि है, मूर्छा का परिणाम है वह परिग्रह है। त्यागना है इस मूर्छा परिणाम को ही। बाहरी पदार्थों का क्या त्यागना? अरे वे तो प्रकट ही तेरे से अलग दिख रहे हैं। जब तक इन परपदार्थों के प्रति मूर्छा का परिणाम नहीं त्यागा जायगा तब तक यह आकिंचन्यभाव प्रगट नहीं हो सकता।

इन बाह्य पदार्थों का सम्पर्क होने न होने से परिग्रही अथवा निष्परिग्रही नहीं कहा जा सकता। अभी कोई दरिद्री पुरुष हो,

उसके पास एक छोटी सी झोपड़ी हो, बिल्कुल साधारण स्थिति हो, पास में बहुत कम सामान हो। तो क्या उसे निष्परिग्रही कहना चाहिए ? अरे उसके अन्दर तो ऐसा संस्कार बना है कि दुनियाँ का सारा वैभव मुझे मिल जाय। तो बताओ जहां मूर्छा का परिणाम पर पदार्थों के प्रति बना हो वही तो परिग्रही कहलायगा न, और कदाचित् किसी को पुण्योदयवश सब प्रकार के सुखसाधन प्राप्त हो रहे हैं, पर उनके प्रति उससे मूर्छा का परिणाम नहीं है ममत्वबुद्धि नहीं है, उनसे पृथक् हो जाने का ही भाव रखता है अपने सर्व से विविक्त आत्म स्वरुप की ओर दृष्टि रखता है तो उसे इतने आडम्बर के बीच रह कर भी परिग्रही नहीं कहा जा सकता।

अरे इन पर पदार्थों का संग्रह विग्रह, करके सुख (मौज) माना जा रहा है, जरा सोचो तो सही कि क्या ये पर पदार्थ सदा साथ रहेंगे ? अरे इनका तो नियम से विछोह होगा। विलगाव होगा। ऐसा जानकर इन समस्त बाह्य पदार्थों की ममता छोड़ें और अपने आपके विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वरूप की शरण लेकर उसमें ही रहें, उसी में तल्लीन हों तो इसी से जीवन की सार्थकता है। अरे इन पर पदार्थों के पीछे मोह करके अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ में खो देना यह तो एक महान अन्याय अपने आपके साथ किया जा रहा है। इन बाह्य पदार्थों के पीछे न जाने कितने-कितने विकल्प मचाने पड़ते हैं, न जाने कितने-कितने अनर्थ के कार्य कर डाले जाते हैं, पर अन्त में परिणाम यही होता है कि हाथ कुछ नहीं लगता है, खाली हाथ जाना पड़ता है। उसके फल में दुर्गतियों का पात्र ही बनना पड़ता है। एक कथानक आपको मालूम ही होगा कि एक बार चार चोर

कहीं से चार लाख का धन चुरा कर लाये। जंगल में किसी जगह रखा, रात्रि में ही उन चारों में यह निर्णय हुआ कि धन तो अपन लोग बाद में बाँटेंगे, पहिले बाजार से कुछ मिठाईयां मंगवा-कर खा पी लेना चाहिए। सो दो चोर तो चले गये बाजार मिठाई लेने के लिये और दो चोर रह गये उस धन की रक्षा करने के लिए। जब दो चोर मिठाई लेने जा रहे थे तो रास्ते में सलाह की, कि देखो चार लाख का धन मिला है, ऐसे तो एक-एक लाख ही मिलेगा, अगर एक उपाय यह किया जाये कि मिठाई में विष देकर इन दोनों को में खिला दिया जाय तो वे तो मर जायेंगे, अपन लोग दोनों दो-दो लाख बांट लेंगे। बात तय हो गयी। इधर धन की रक्षा करने वाले दोनों चोरों के मन में यह बात आयी कि यह धन बटने पर तो एक-एक लाख ही मिलेगा। अगर यह उपाय किया जाय कि उन दोनों को वहीं से आते सूट कर दिया जाय तो वे मर जायेंगे और अपन दोनों को दो-दो लाख का धन मिल जायगा। ठीक—। अब क्या हुआ कि उधर से वे दोनों चोर मिठाई में विष मिला कर लाये और इधर दोनों चोर बन्दूक ताने बैठे रहे। ज्यों ही पास में दोनों पहुंचे कि बन्दूक से सूट कर दिया। वे दोनों तो मरण को प्राप्त हो गये। अब दोनों चोरों ने सलाह की कि पहिले इस मिठाई को खा पी लें बाद में धन बाँटेगे। तो जब मिठाई खायी तो वे भी मर गये। धन ज्यों का त्यों पड़ा रहा। तो देखिये इस परिग्रह के पीछे ही तो ऐसी घटना बनी। यह परिग्रह अनर्थ करने वाला है। जीवों के परिणामों में मलिनता उत्पन्न करने वाला है। अतः इस परिग्रह सम्बन्धी अभिलाषाओं को, परिग्रह के प्रति होने वाले छमू परिणामों को शीघ्र ही छोड़ देना चाहिए।

यद्यपि हम आपके सामने ऐसी असमर्थता है कि इन परिग्रहों

को आज छोड़ नहीं पा रहे, पर वास्तव में हम आपकी भलाई है इनके छोड़ने में ही। आज हम आप पर संकट छाया है इस परिग्रह के ही पीछे। इस परिग्रह के पीछे शान्ति कहां है ? अपने आत्मस्वरूप का ख्याल कहां ? यहां तो परिग्रह सम्बन्धी विकल्प ही बनतें रहते हैं। इस परिग्रह के बीच रहकर शांति नहीं मिलती। इसको तो छोड़ देने में ही शान्ति प्राप्त होती है। एक पौराणिक सत्य दृष्टान्त आया है कि एक बार दो भाई धन कमानें के लिए विदेश गये। समय की बात कि दोनों भाइयों ने कुछ ही दिनों में बहुत सा धन कमा लिया। अब स्वदेश लौटना हुआ तो उस सारे धन को कैसे लावें ? तो वह सारा धन बेंचकर उन्होंनें बहुत ही कीमती एक रत्न खरीद लिया। उस रत्न को लेकर वे स्वदेश के लिए रवाना हुए। समुद्री मार्ग था, समुंद्री जहाज द्वारा वे आ रहे थे। वह रत्न बड़े भाई के पास था। उस समुद्र के बीच में उस बड़े भाई के मन में आया कि देखो घर जाने पर तो यह रत्न बंट जायगा। यह मेरे ही दिमाग से श्रम पूर्वक कमाया हुआ है। आज अभी अच्छा मौका है, इस छोटे भाई को समुद्र में गेर दें। यह मर जायगा तो यह रत्न मुझे मिल जायगा, लेकिन थोड़ी ही देर में वह सम्हल गया, ओह मैं कैसा अनर्थ करना इस रत्न के पीछे विचार रहा था। धिक्कार है ऐसे रत्न को। अपनें लक्ष्मण सरीखे प्रेम करने वाले भाई को हमने मारना विचारा। धिक्कार है। उसने छोटे भाई से कहा—भाई इस रत्न को तुम अपने पास रखो। यह तो हमें अपनें पास रखना योग्य नहीं। यह तो महान अनर्थ का कारण है। अब छोटे भाई ने उस रत्न को अपने पास रख लिया। थोड़ी ही देर में उसके मन में आया कि अब तो यह रत्न मेरे हाथ आ गया है। इसे तो मैंने ही मेहनत करके कमाया था। बड़े भाई ने तो केवल ऊपरी ऊपरी थोड़ा

प्रयास किया था, अच्छा होगा कि इस बड़े भाई को समुद्र में ढकेल दें। यह मर जायगा तो यह रत्न मुझे मिल जायगा। नहीं तो घर पहुंचने पर बंट जायगा। लेकिन थोड़ी ही देर में वह भी सम्हल गया और अपने को धिक्कारने लगा। उसने भी अपने बड़े भाई से कह दिया कि इस रत्न को मैं तो अपने पास न रखूंगा। यह तो अनर्थ का ही प्रकटावनहारा है। खैर किसी तरह से वे दोनों घर पहुंचे। वहां अपनी बहिन के पास रत्न को रख दिया। बहिन के मन में भी आया कि ये दोनों भाई इस रत्न को ले लेंगे। अच्छा होगा कि भोजन में विष देकर इन दोनों भाइयों को मार दूं तो यह रत्न मुझे मिल जायगा। पर वह भी सम्हली और दोनों भाइयों से कहा—मैं इस रत्न को अपने पास न रखूंगी। यह तो बड़ा अनर्थ करने वाला है। आखिर मां के पास वह रत्न रखा गया, तो मां के भी वैसे ही भाव हो गये, अपने दोनों पुत्रों को विष देकर मारने के, पर वह भी सम्हली, और सभी ने अपने मन में उठने वाले अनर्थ भावों को एक दूसरे के समक्ष व्यक्त किया। तब उनकी मां बोली—वेटा यह क्या कमाई कर लाये, ऐसी कमाई अपन को नहीं चाहिए। यह तो तुम समुद्र में ही फेंक आवो तभी शान्ति मिलेगी। अपनी तो वह गरीबी की स्थिति ही भली है जिसमें संतोष और प्रेम से रहते हैं। जब वह रत्न समुद्र में फेंक दिया गया तब वे पूर्व की भांति सुख से रहने लगे। सो यह पौराणिक सत्य वृतान्त है। इससे जीवन में अशांति के कारण की खोज करलो, जब भी खोज होगी तो यह परिग्रह भाव ही अशान्ति का कारण मिलेगा। ऐसा जानकर इस परिग्रह से विरक्त हों और अपने आपके अनन्त अविनाशी ज्ञान पद की धुन बनायें। और उसके दर्शन करें।

प्रभु की उपासना किसलिए की जाती है ? आकिंचन्य-भाव की प्राप्ति के लिए। प्रभु और क्या दर्शा रहे हैं अपनी इस वीतराग मुद्रा के द्वारा ? यही कि हे आत्मन्, तुम्हें शांति चाहिए तो हमारे जैसे ही शुद्ध बनो। तभी एक भक्त वीतराग प्रभु की स्तुति करते हुए कहता है कि हे भगवन आकिंचन-व्रत तो आपने ही भली प्रकार जाना-किस प्रकार :—

यदि जग में सार जरा होता, तो तुम कैसे त्यागन करते ?
संसारी जीवों के समान, भवसागर में चक्कर करते ॥
यदि जग का राज्य अटल होता, तो तुम प्रभुजी क्योंकर तजते?
यदि विषयों में कुछ सुख होता, तो आतमराम कैसे भजते ?
यदि रागद्वेप में हित होता, तो वीतराग कैसे बनते ?
यों स्वजन और परिजन सबसे, क्यों मोह त्यागने को ठनते ?

अस्तु समस्त प्रकार के परिग्रहों का संसर्ग तज और अपने अन्तर्मुखी उपयोग से जो अपना अनन्त वैभव है, अनन्त चतुष्टय है उसका धनिक बन। अरे केवल इस उपयोग को ही तो वहां लगाना है। कहीं बाहर में कुछ प्रयास नहीं करना है। अपने उपयोग को उस ओर लगा तो, तू ही इस आकिंचन्य भाव के द्वारा अनंत चतुष्टय का धनिक बन जायगा। देखिये-यदि तुझे शान्ति चाहिए तो अपनी दरिद्रताओं को मेंट ले और यदि दरिद्रता ही भली है तब तो चाहे जैसा असंतोप कर।

अरे दरिद्र कौन है ? जिसे तृष्णा लगी है, लोभ का रंग चढ़ा है वही तो दरिद्र है। इसीलिए तो कहा है कि 'घटादे मन की तृष्णा को अगर सुख से रहा चाहे।' और भी कहा है-गोधन गज धन वाजि धन, और रतन धन खान। जब आवे संतोप धन,

सब धन धूरि समान । अरे यदि दरिद्रता मेटना है तो इस संतोष धन की प्राप्ति करो । अगर जीवन में संतोष-रूपी धन की प्राप्ति नहीं हुई तो फिर कितनी ही बाह्य विभूतियों का समागम जुट जाय, उससे तृप्ति नहीं होती । वह तो महा दरिद्री है । जैसे एक कथानक है कि कोई एक राजा किसी दूसरे राजा पर चढ़ाई करने के लिए जा रहा था । रास्ते में एक फकीर बैठा था, उसके पास एक पैसा था । कहीं से उसने पा लिया होगा । तो उसने सोचा था कि हम यह पैसा उसे देंगे जो सबसे अधिक गरीब दिखेगा । जब वह राजा दूसरे राजा पर चढ़ाई करने जा रहा था तो उसने किसी से पूछ कर पता पाया कि यह राजा पास के किसी छोटे राजा पर चढ़ाई करके धन हड़पने के लिए जा रहा है । तो फकीर ने सोचा कि इससे बढ़ कर गरीब और कौन होगा ? इसी को यह पैसा दे देना चाहिए । तो राजा हाथी पर बैठा हुआ जब सामने से निकला तो उसकी थैली में वह पैसा फकीर ने फेंक दिया । इस बात से राजा ने इसे अपना अपमान समझ कर क्रोध उत्पन्न कर लिया ।—अरे मेरे ऊपर यह पैसा क्यों फेका ? मैं ही मिला तुझे—हाँ आप ही मुझे दरिद्री मिले ।—मैं दरिद्री कैसे ? मैं तो इतना बड़ा राजा हूँ, मेरे पास इतना वैभव है ।—अरे यदि आप दरिद्री न होते तो बेचारे इस छोटे राजा का धन हड़पने क्यों जाते ? अब तो राजा की आँखे खुल गईं और वह अपनी सारी सेना सहित वापिस लौट गया । तो देखिये इस परिग्रह के पीछे न जाने कितने-कितने अनर्थ हो जाया करते हैं । देखो यदि परपदार्थों के पीछे तृष्णा है, मूर्छा है, तो समझलो कि वह महादरिद्र है । और यदि कोई अपनी थोड़ी ही स्थिति में संतुष्ट है तो वह श्रीमान है । इसलिए यदि श्रीमान बनना है तो संतोष को धारण करो और यदि दरिद्री ही बने

रहना इष्ट है तो फिर ठीक है, खूब इन वाह्य पदार्थों की आशा तृष्णा, मूर्छा आदि में ही लगे रहो, उन्हीं के पीछे रचे-पचे रहो और दरिद्रता का दुःख सहते रहो।

देखिये—यदि मोक्ष मार्ग में लगना है तो इन समस्त प्रकार के वाह्य पदार्थों का संसर्ग त्यागना होगा और अपने आपके विविक्त ज्ञान स्वरूप को दृष्टि में लेना होगा। भले ही आज अन्याय से धन का संचय करके कुछ मौज माना जा रहा है लेकिन इसका फल कटुक जब सामने आयगा तब पता पड़ेगा। आज अत्याचार करके अपना मलिन व्यवहार कर रहे, अपनी नियत को खराब कर रहे तो भले ही आज ये सब कुछ अच्छे लग रहे हैं लेकिन जब इन पाप कर्मों का फल सामने आयगा तब पता पड़ेगा कि अरे इन कलुषताओं का फल तो कटुक ही प्राप्त होगा। ऐसा जानकर इन अंतरंग बहिरंग समस्त प्रकार के परिग्रहों का, विकार भावों का, कलुषताओं का त्याग करें। इनका संसर्ग अनर्थ का उपजावन-हारा समझें और अपने आपके इस आकिंचन्यस्वरूप को दृष्टि में लें।

एक दृष्टांत है कि एक लकड़हारा था, उनके एक दर्जन बच्चे थे। वह बेचारा प्रति दिन लकड़ियाँ बीन कर लाया करता था और उन्हें बेचकर परिवार का पालन पोषण किया करता था। अब बताओ जिसके एक दर्जन बच्चे हों और वह रुपया दो रुपया की लकड़ियाँ बेच कर अपना परिवार चलाये, तो किस तरह चलाता होगा तो आप स्वयं विचार लीजिये। उसकी स्त्री प्रति दिन उसके ऊपर बड़-बड़ाया ही करती थी, पर क्या करे वह ? आखिर स्त्री ने एक दिन कहा कि देखो कल के दिन तुम लकड़ियां बीनने न जाना। एक काम करना।—क्या कि तुम प्रातःकाल

उठकर गांव से बाहर जाना और वहां तुम्हें जो भी अच्छी वस्तु मिल जाय उसे घर पर ले आना, फिर हम तुम्हें आगे की बात बतायेंगे।–अच्छी बात। दूसरे दिन प्रातःकाल वह लकड़हारा गांव से बाहर गया तो उसे एक तालाब के किनारे एक बगुला मिल गया। वही उसे अच्छा लगा तो उसे लेकर घर आया। स्त्री ने कहा—देखो कलके दिन तुम इसे हंस बताकर बाजार में बेच आना।–कितने में ? ३०००) में।–अच्छी बात। गया वह बाजार। सारे दिन उसे किसी ने न खरीदा। कौन खरीदे ३०००) में ? सो वह जब घर लौटकर आ रहा था तो रास्ते में एक सेठ का घर पड़ा, तो सेठ आया, पूछा भाई यह बगुला बेचोगे ?—हां हां बेचने के लिए ही तो लाये हैं।–कितने में दोगे ?–३०००) में।–अरे यह तो चार आने की कीमत का है। देना हो तो चार आने में दे दे। लकड़हारे के मन में आया कि चलो चार आना ही सही। इस बगुले का क्या करेंगे ? आज भला चार आने में बच्चों को कुछ खिला पिला तो देंगे। जब घर आया तो स्त्री ने बहुत भला बुरा कहा और स्त्री ने कहा–अच्छा देखो कल के दिन तुम फिर प्रातःकाल उठकर गांव के बाहर जाना और अच्छे अच्छे फूल तोड़ लाना, मैं उनकी माला बनाऊंगी और तब फिर बताऊंगी कि तुम उसका क्या करो।–अच्छी बात। दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर वह गांव से बाहर किसी बगीचे में पहुंचा और वहां से अच्छे अच्छे फूल तोड़ कर घर आया। स्त्री ने उसकी माला बनायी और कहा देखो–कलके दिन तुम इसे बाजार में बेंच आना।–कितने में ?–२०००) में। तो वह उस माला को लेकर बाजार गया, सारे दिन वहीं बैठा रहा, पर उसे किसी ने न खरीदा। अरे कौन खरीदे २०००) में। तब फिर वह घर की ओर लौट पड़ा। रास्ते में फिर उसी सेठ का मकान पड़ा। सेठ

ने पूछा—क्यों भाई माला बेचोगे ?—हां हां माला बेचने को तो लाये ही हैं।—कितने में दोगे ?—२०००) में। अरे इसमें २०००) की क्या वात ? यह तो कोई चार आने की कीमत की है। चार आने लेना हो तो दे दो। लकड़हारे ने फिर सोचा कि चलो चार आने ही वहुत हैं। इस माला का क्या करेंगे ? भला चार आने से घर के वच्चों को कुछ खिला पिला तो देंगे। सो चार आने में वेचकर जव वह घर आया तो स्त्री फिर वहुत वड़वड़ाई। खैर तीसरे दिन फिर स्त्री ने कहा कि कलके दिन तुम घर से वाहर जाना तो एक लोहे के डंडे में किसी सुनार से सोने का पालिश करवा लाना, फिर हम तुम्हें आगे की वात वतायेंगे।

—अच्छी वात। वह लकड़हारा दूसरे दिन घर से वाहर गया, किसी लोहे के डंडे को एक सुनार के पास ले गया और सोने का पानी चढ़वा लिया। सुनार ने भी इस ढंग से पालिश करदी कि यही मालूम पड़ता था कि वह डंडा सोने का ही है। उसे लेकर घर पहुंचा, स्त्री ने कहा—देखो—कल के दिन तुम इसे वहुत अच्छी तरह छिपाकर वाजार ले जाना और वेच आना। —कितने में ? ५०००) में। —अच्छी वात। दूसरे दिन वह डंडा लेकर वाजार गया। आखिर जव न विकने पर वह वापिस घर लौट रहा था तो वही सेठ जी का मकान पड़ा। सेठ ने पूछा—भाई आज तुम कपड़े में छिपाये हुए कौन सी चीज लिए जा रहे हो ? तो लकड़हारा पहिले तो वोला कुछ नहीं, पर उसने उस डंडे का जरा सा कोना दिखा दिया। सेठ ने समझ लिया कि यह तो वहुत ही कीमती सोने का डंडा मालूम होता है। तो झट घर के अन्दर वुलाकर उसे विठाया और पूछा—इसे वेचोगे ?—हाँ हाँ वेंचने के लिए तो लाये ही हैं।—कितने में दोगे ?—५०००) में।

लो सेठजी ने तुरन्त ही तिजोरी से ५०००) निकाल कर दे दिये । और डंडे को तिजोरी में रख दिया । लकड़हारा खुश होकर घर आया । अब स्त्री भी बहुत खुश हुई । अब क्या था । लकड़हारे ने लकड़ी बेचने का काम बन्द कर दिया । कोई नया काम चालू कर लिया और कोट, पेन्ट, सूट में रहने लगा । मकान भी नया बनवा लिया । एक दिन वह शाम को घूमने उसी सेठ के द्वार से एक गीत गाता हुआ जा रहा था ? "ताधिन्ना भाई ता धिन्ना, ता धिन्ना भाई ता धिन्ना ।" सेठ को वह गीत पसंद आया । बोला–कुछ और सुनाओ । सेठ तो उसे पहिचान ही न सका था । वह बोला सुनो–बगुला बेचा चार आने में, माला बेची चार आने में, ता धिन्ना भाई ताधिन्ना…। अरे भाई इसके आगे भी कुछ और है कि नहीं ? सुनाओ–तुम्हारा गीत बड़ा अच्छा लग रहा है । और, यह है सुनो सेठ जी–जब तिजोरी में रखा हुआ डंडा काटकर देखोगे तो खबर पड़ेगी वा दिन्ना,, ता धिन्ना भाई ता धिन्ना । अब सेठनें उसे पहिचान लिया कि यह तो वही व्यक्ति है जिससे बगुला, माला, डंडा आदि खरीदा था । तो जब डंडे को निकाल कर देखा तो हाय करके रह गया । तो कहने का आशय यहाँ यह है कि चाहे कितना ही अन्याय से, अत्याचार से, आज धन कमा लिया जाय, परिग्रह का खूब संचय कर लिया जाय और उससे विकट पाप बंध कर लिया जाय पर अन्त में उनका फल क्या होगा ? अरे एक तो अन्याय से कमाया हुआ धन इसी तरह से बरबाद हो जायगा । उसका सदुउपयोग जीवन में न किया जा सकेगा । और दूसरे उसके फल में बांधे हुए कर्मों का फल बड़ा कटुक प्राप्त होगा ।

आज जिस परिग्रह के संचय की इतनी अधिक धुन बनाई जा

रही है, इतनी अधिक तृष्णा की जा रही है तो ठीक है, खूब कर लो तृष्णा, पर खबर पड़ेगी वा दिन्ना। किस दिन ? जव कि इस परिग्रह का विलगाव होगा, इसे छोड़कर जाना होगा। उस समय भी वड़े संक्लेश परिणामों में मरण होगा और फलस्वरूप महा खोटी कुयोनियों का पात्र वनना पड़ेगा। उन कुयोनियों के घोर दुःखों को सहते हुए खवर पड़ेगी कि ओह, मैंने जो अन्यायपूर्वक धनार्जन किया, परिग्रह का संचय किया था, उसी का यह फल है कि आज मुझे इस तरह की दुःखद घोर यातनायें सहनी पड़ रहीं हैं। तो हम आपका कर्तव्य यह है कि आज वर्तमान में जैसी भी स्थिति हो (धनिकता की या निर्धनता की) हर स्थिति में संतोप धारण करके धर्म साधना में अपना अधिकाधिक समय व्यतीत करें। अपने आपके इस आकिंचन्य धर्म की उपासना करें। इसी का प्रोग्राम वनायें।

यहाँ की इन परिग्रह सम्वन्धी लालसाओं का प्रोग्राम वन्द करदें। अरे आज जो भी स्थिति हमें मिली है वह गुजारा चलाने के लिए पर्याप्त है। यह तो हमारा एक वहाना है कि इससे हमारा गुजारा नहीं चलता। अरे अगर संतोपवृत्ति से, सात्विकता से अपना जीवन चलाया जाय तो आज की यही स्थिति पर्याप्त है। आज तो हम आप को यह उत्कृष्ट मानव पर्याय प्राप्त है, सव प्रकार से समर्थ हैं, उत्कृष्ट वुद्धि मिली है। इस वुद्धि का सदुपयोग करके अपने जीवन को सार्थक वना सकते हैं। अपना कल्याण कर सकते हैं। यहां से मरण करके कदाचित पशु पक्षी कीड़ा मकोड़ा अथवा नरकादिक की पर्यायों में जाना पड़ा तो फिर क्या हाल होगा ? अरे वहां फिर अपना कल्याण किस तरह से किया जा सकेगा ? अतः अव तो कुछ सोचें समझें, इन आरम्भ

परिग्रह की लालसाओं में पड़कर अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ न खोयें।

आज जो पुण्य कर्म के उदय से धन प्राप्त हुआ है उसको यथोचित धर्म कार्यों में यथा शक्ति दान देकर सदुपयोग कर लें, इन परिग्रह सम्बन्धी लालसाओं को समाप्त करके अपना एक इस तरह का भाव बनायें कि इस संसार में मेरा कहीं कुछ नहीं है। यहां की किसी भी परवस्तु से मेरा रंच भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसा चिन्तन करके पर पदार्थों से मूर्छा का, ममत्व का परिणाम हटायें और अपने आपको ज्ञायकस्वरूप में लवलीन करें। यद्यपि इस काम को साधुजन ही उत्तम ढंग से कर सकते हैं, क्योंकि वे निश्परिग्रह, निसंग होते हैं। गृहस्थों के पास तो अनेक झंझट होते हैं, सो ठीक ही है। वास्तव में परिग्रह की वृत्ति और कुछ नहीं, बल्कि अन्दर रहने वाले लोभ की झलक ही है। जो भी साधु अपनी मर्यादा के विरुद्ध कुछ संग्रह करना चाहता है वह गृहस्थ है, साधु नहीं। जिसके पास धन है वह साधु नहीं। गृहस्थी में रहकर धन तो चाहिए ही। रखना ही पड़ता है, पर वहां भी कर्त्तव्य यह है कि इसके पीछे मूर्छा का परिणाम न रखें। उसकी तृष्णा लालसा न रखें संतोष-वृत्ति से रहें, सात्विकता का स्वागत करें और उन आरम्भ परिग्रह सम्बन्धी सर्व प्रकार के संकल्प विकल्पों का त्यागकर अपने आपके शुद्ध चित्स्वरूप ज्ञायक भावमात्र की उपासना करें। जिन ज्ञानी पुरुषों को इसी उत्कृष्ट काम को करने की धुन जाती है। वे बस यही सोचते हैं कि इस जगत में मेरे लिए करने योग्य अन्य कोई कार्य नहीं है। बस मैं अपने आपके इस आकिन्चन्य-स्वरूप को ही लखता रहूं। उसी की उपासना में लगा रहूँ, बस यही एक काम मेरे लिए करने योग्य है।

अरे इस परिग्रह के पीछे तो ज्ञानी ध्यानी साधु संतों तक के प्रति भी लोगों का कलुषित विचार हो जाता है। महापुरुषों पर भीं संदेह कर लिया जाता है। एक दृष्टान्त है कि कोई मुनिराज किसी नगर में चातुर्मास करने के लिए आये। चातुर्मास प्रारम्भ कर दिया। नगर से बाहर किसी बगीचे में वे रहा करते थे। वहां के एक सेठ के मन में आया कि हम भी महाराज के साथ यहीं बगीचे में चातुर्मास भर रहेंगे। महाराज की सेवा करेंगे और धर्म साधना करेंगे। अब चूंकि उसका पुत्र था कुपूत इसलिए उसने क्या उपाय किया कि अपने कीमती सोना चांदी रत्न जवाहरात आदि जो भी मूल्यवान चीजे थीं उनको एक हंडे में भरकर वहीं बगीचे में एक पेड़ के नीचे गाड़ लिया। इस काम को करते हुए उसकें कुपूत ने देख लिया था। सो एक दिन अवसर पाकर उसने वह धन का हंडा निकाल लिया। चातुर्मास समाप्ति पर मुनिराज तो विहार कर गये। इधर सेठ ने देखा तो धनका हंडा नदारत था। उसके मन में ऐसा संदेह हो गया कि यहां और तो कोई आता जाता न था, सिर्फ मुनि महाराज और हम यहां रहा करते थे। सो महाराज ही वह धन का हंडा निकाल ले गये होंगे। यह विचार कर सेठ महाराज के पास पहुंचा और वहां तीन चार ऐसी ऐसी कथायें कहीं कि जिनसे यह आशय प्रकट होता था कि हमने तो आपकी चार महीने सेवा की और आपने हमारे धन का हंडा निकाल लिया। तो उसके आशय को समझकर मुनिराज ने भी ऐसे कथानक कहे कि जिससे यह आशय प्रकट होता था कि ऐ सेठ तुम व्यर्थ ही हमारे ऊपर भ्रम मत करो। यह वार्तालाप उसके कपूत बेटे ने जान लिया कि हमारे पिता जी मुनिराज पर संदेह कर रहे हैं, सो वह तुरन्त ही मुनिराज के पास पहुंचा और अपने पिता से कहा—कि

आप मुनिराज पर व्यर्थ में संदेह न करें। आपका धन का हंडा मैं ही अवसर पाकर निकाल ले गया था, अब आपके उस धन के हंडे को मैंने घर में रख दिया है, सो उसे ले लें और मैं तो अब इस धन के संसर्ग से दूर रहकर आत्म साधना करूंगा। धिक्कार है ऐसे धन को कि जिसके पीछे बड़े बड़े मुनिराजों पर, (महापुरुषों पर) भी संदेह कर डाला जाता है। आखिर वह कुपूत बेटा भी सपूत हो गया और वहां दीक्षित हो गया। तो इस धन का (इस आरम्भ परिग्रह का) संसर्ग योग्य नहीं, जो कि भ्रान्ति पैदा करदे और दुर्गति का पात्र बनादे।

और भी देखियें—सम्राट सिकन्दर ने अपने जीवन में बड़े बड़े अत्याचार, लूटमार, मूर्ति खण्डन आदि के कार्य करके बहुत बड़ा परिग्रह का संचय किया, लेकिन जब उसे अपनी करनी पर पछतावा हुआ, अपने जीवन को बहुत धिक्कारा और अन्त समय कह गया कि हे दुनिया के लोगो जब मेरा मरण होवे तो मेरे दोनों हाथ अर्थी से बाहर निकाल देना ताकि दुनियाँ देखले और समझ जावे कि सम्राट सिकन्दर ने जीवन भर खूब अत्याचार करके धन संचय किया था पर आज यों ही खाली हाथ जा रहा है। किसी कवि ने कहा है ना कि—"सभी थी संग में दौलत, सभी हाली बहाली थे। सिकन्दर जब गया दुनिया से, दोनों हाथ खाली थे॥" तो देखिये इस परिग्रह का वियोग तो नियम से होगा ही। यदि इसके पीछे अपने जीवन को बरबाद किया जा रहा है तो अन्त में पछतावा ही हाथ लगेगा और जन्म—मरण की दुःखद परम्पराओं में ही पटकने का कारण बनेगा। यह परिग्रह हम आपका कल्याण कर सकने में कभी भी साधक नहीं बन सकता। अतः समस्त प्रकार के परिग्रहों से (१४ प्रकार के अंतरंग और १०

प्रकार के बहिरंग परिग्रहों से) इस ममत्व को मूर्छा को हटायें और अपने आपके आकिंचन्य स्वरूप का दर्शन करें। इसी में हम आपका कल्याण है।

ऐसा निर्णय रखना चाहिए कि इस आकिंचन्यभाव के भाने से, अपने आकिंचन्य स्वरूप की दृष्टि बनाये रहने से मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। वीतराग प्रभू की मुद्रा भी यही शिक्षा दे रही है कि रे आत्मन्, सर्व परका संसर्ग तोड़ कर निज आकिंचन्य स्वरूप का, सहजानन्दस्वरूप का, ज्ञान स्वभाव मात्र का दर्शन करो। पूजन में भी पढ़ते ही हैं कि:—

परिग्रह चौबिस भेद, त्याग करैं मुनिराज जी।
तृष्णा भाव उछेद, घटती जान घटाइये॥

उत्तम आकिंचन गुण जानो, परिग्रह-चिंता दुःख ही मानो॥
फाँस तनक सी तन में साले, चाह लंगोटी की दुःख भाले।
भाले न समता सुख कभी नर, विना मुनी-मुद्रा धरैं।
धनि नगन पर तन-नगन ठाड़े, सुर असुर पायन परैं॥
घर माँहि तृष्णा जो घटावै, रुचि नहीं संसार सौं।
बहु धन बुरा हू भला कहिये, लीन पर उपकार सौं॥

(ॐ ह्रीं उत्तम आकिंचन्यधर्माङ्गाय नमः)

उत्तम ब्रह्मचर्य

दिन है। इस दिन उत्तम ब्रह्मचर्य की चर्चा करना है। 'ब्रह्मणि-चरणं ब्रह्मचर्य'। आत्मा में चर्या करना इसको कहते हैं ब्रह्मचर्य। ब्रह्म मायने आत्मा, इस ज्ञान दर्शन स्वभावी आत्मा में चर्या करना, रमण करना, लीन होना इसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावी आत्मतत्व में ही रमण हो, अन्य पर पदार्थों से, परभावों से रमणता का भाव छूटे और समस्त प्रकार की विषय वासनाओं के संस्कारों से निर्मुक्त होकर आतम स्वभाव में ही तल्लीन रहें इसे उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म कहते हैं। इस उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म के पात्र साधुजन ही हुआ करते हैं, क्योंकि जिन्होंने समस्त प्रकार के परिग्रहों के संसर्ग को, उनकी अभिलाषाओं को, उनकी आशक्ति को छोड़ दिया है ऐसे साधुजनों के ही ऐसी पात्रता बन सकती है कि वे अपने आपके ज्ञायक स्वभाव का परिचय कर उसमें लीन हो सकते हैं।

जहां नाना प्रकार की परिग्रह सम्बन्धी वांछायें जग रहीं हों वहां आत्मा में आत्मा की तल्लीनता होना असम्भव है। इसी आत्म तल्लीनता के महान कार्य हेतु ही तो साधुजन इन समस्त प्रकार के परिग्रहों के संसर्ग से दूर रहा करते हैं। मूल में इस ब्रह्मचर्य के कार्य में बाधक यह परिग्रह भाव ही तो है। देखिये—वैसे तो पांचों पाप, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इनसे ब्रह्मचर्य का घात हुआ करता है। हिंसा है तो वहां भी ब्रह्मचर्य का घात है, असत्य है, तो वहां भी ब्रह्मचर्य का घात है, इसी प्रकार चोरी, कुशील और परिग्रह पाप से ब्रह्मचर्य का घात होता है। यह परिग्रह भाव जहाँ है वहाँ विशेष रूप से ब्रह्मचर्य का घात है। परिग्रह के विषय में कहा है कि 'परिसमन्तातग्रहणा-तिइति परिग्रहः।' अर्थात् परिग्रह कहते ही उसे है जो इस व्यक्ति

को चारों ओर से जकड़ले, कसले, यहां जो चारों ओर से विकल्प उठ रहे हैं, अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां बन रही हैं उनसे ही यह जीव विह्वल हो रहा है, इसी को कहते हैं परिग्रह। ऐसे परिग्रहों में रहकर आत्म स्वरूप में रमण करने का कार्य बन नहीं सकता। जो पर पदार्थों की चिन्तना में रहता है वह तो इस आत्म स्वभाव से बहुत दूर भटकता रहता है।

देखिये--इस परिग्रह के पीछे लोभ कषाय की प्रबलता रहती है। इस लोभ कषाय को क्रोध कषाय से हल्के दर्जे की न समझें। यद्यपि क्रोध कषाय को पहिले कहा गया है तथा यह ऊपर फलित रूप से देखने में आ जाती है इसलिए लोग इसे प्रबल कषाय मानते हैं पर यह लोभ कषाय भी उस क्रोध कषाय की तरह ही समझिये। यह भी उसी दर्जे की चीज है। तो यह लोभ कषाय इस आत्म साधना के कार्य में अत्यन्त बाधक है। लोभ तो कितनी ही चीजों का रहता है। जैसे अपनी प्रतिष्ठा का लोभ, अपनी विषय वासना का लोभ आदि। तो जो व्यक्ति इस लोभ कषाय को लिए हुए बैठा हो वह इस धर्म को धारण करने का पात्र नहीं है। जहां धन वैभव सम्बन्धी चाह लगी है, भोगों को भोगने की वांछा बनी है वहाँ तो धर्म धारण की गंध भी नहीं आती। धर्म-धारण करने का अधिकारी वही ज्ञानी पुरुष होता है जो इन परिग्रहों से मूर्छा हटाकर उनसे ममत्व तोड़कर अपने आपके विविक्त स्वरूप को प्रतीति में लेता है। यदि परभावों से छुटकारा न हो तो इन आश्रव भावों से छुटकारा किस तरह से हो सकता है? इन आश्रवों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए इन लोभादिक कषायों को छोड़ना ही होगा। जिन जिन सम्पर्कों से लोभ बढ़ता है उनका त्याग करें।

परिग्रह मूल में दो प्रकार के बताये गये हैं—बाह्य परिग्रह और अंतरंग परिग्रह। यहां इन परिग्रहों की चर्चा इसलिए कर रहे हैं कि यदि हम खोज करें, अपने अन्दर परखें तो वे परिग्रह भाव ही इस ब्रह्मचर्य के घातक हैं। जो अंतरंग परिग्रह हैं वे १४ प्रकार के बताये गये हैं—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंकवेद। इनमें मिथ्यात्व-परिग्रह मुख्य है, क्योंकि जहां स्वपरका भेदज्ञान नहीं है। उस अवस्था का नाम है मिथ्यात्व। अरे जिस पदार्थ का मैं स्वामी नहीं, उस पदार्थ को मानूं कि यह मेरा है, इसको मैं ऐसा कर देताहूँ, यही तो मिथ्यात्व है। अरे उसने अपने अभेद षटकारक स्वरूप को नहीं पहचाना और क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक से अपना सम्बन्ध मानने की बात रखी तो यह ही मिथ्यात्व भाव झलक गया। मिथ्यात्व में ऐसी बुद्धि रहती है कि यह मैं पर-पदार्थों का अधिकारी हूँ, यह पर मेरे द्वारा किया गया है, यह पर मेरे द्वारा किया जा रहा है, पर में से यह किया जा रहा है और पर के आधार से यह कार्य बना हुआ है। जहां ऐसा बाह्य में षट्कारक रूप विकल्प बनता है वहां कहां से सम्यक्त्व जग सकता है? सम्यक्त्व के लिये तो अपने आपके विषय में इस आत्मस्वरूप की परख की जाय और यह बात विदित हो कि मैं अपने ही आधार से, अपने ही करण से, अपने ही लिए, अपने में ही; अपने द्वारा ही, अपना काम किया करता हूँ, परका किंचित् मात्र भी कुछ नहीं हूं। जब वस्तु स्वरूप का परिचय मिला कि प्रत्येक वस्तु अखण्ड होती है और प्रत्येक वस्तु का परिणमन उसका उसके ही आत्मप्रदेश में होता है, फिर किसी एक पदार्थ का परिणमन किसी दूसरे में थापना इसमें तो एक बहुत बड़ा व्यभिचार दोष है, इस व्यभिचार दोष को जब तक समाप्त न करेंगे तब तक ब्रह्मचर्य की स्थिति प्राप्त

नहीं की जा सकती। पर ये अज्ञानीजन अपने में पर कर्तृत्व का आशय लादे फिरते हैं। जिसके कारण ही स्वयं परेशान रहा करते हैं। यह है तो बड़ा नीचा काम, संसार में ही इस जीव को भटकाने का काम, पर यह अज्ञानी प्राणी इस कर्तृत्वबुद्धि को करके ऐसा अहंकार का भाव लिए रहता है कि मैं हूँ सबसे ऊँचा। यही हाल तो इन परिग्रह धारियों का होता है।

वस्तुतः इस परिग्रह के ही कारण हम नाना प्रकार के दुःख पाते रहते हैं। इसलिए इस परिग्रह संचय का कार्य है तो महा-मलिन, पर अज्ञानीजन इस परिग्रह के कारण अपने को बड़ा मानते हैं, दूसरों को तुच्छ समझते हैं, लेकिन इसका परिणाम क्या होगा ? अरे जिस पर जितना परिग्रह का भार है वह उतना ही दुःखी समझो, परिग्रह के भार वाले कभी भी संसार रूपी नदी को पार नहीं कर सकते। जैसे एक कथानक है ना, कि एक बार कोई दो व्यक्ति नदी पार कर रहे थे, दोनों के सिर पर एक एक पोटली थी। एक के सिर पर तो थी नमक की पोटली और एक के सिर पर थी रूई की। अब नदी के बीच में से दोनों गुजर रहे थे। रुई की पोटली वाला ऐसा अहंकार का भाव लिए था कि पोटली तो मेरी है अच्छी बड़ी मालवाली, और यह दूसरे की पोटली तो कुछ नहीं है। कुछ ही दूर चलकर एकदम जोर से वर्षा होने लगी तो नदी में जलका तीव्र प्रवाह आया। रुई वाले की पोटली भीग जाने से वह और भी भारी हो गई जिससे स्वयं भार के बोझ से वह नदी में डूब गया और नमक की पोटली वाले का नमक धीरे धीरे पिघलकर पानी रूप में बह गया। भार हल्का हो जाने से वह आसानी से नदी पार करके बच गया। तो ऐसे ही समझिये कि यह संसार रूपी नदी को आप इस ब्रह्मचर्य द्वारा ही पार कर सकेंगे। यदि इसी तरह के कर्तृत्व, भोक्तृत्व,

अहंकार, ममकार आदि के ही भावों को लिए बैठे रहे तो फिर इस संसार रूपी नदी का तिरना असम्भव हो जायगा।

इस ब्रह्मचर्य की स्थिति को पाकर ही यह स्वयं स्वयं की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। देखिये हम आप मन्दिर में दर्शन करने जाते हैं, पूजन करने जाते हैं और वहां अच्छे अच्छे जेवर, और अच्छी अच्छी साड़ी आदिक पहिनकर कोई जाता है तो जरा सोचो तो सही कि यह प्रभू के दर्शन वहां करता है या उस साड़ी जेवर आदिक के। अरे वहाँ जाने का प्रयोजन तो था ब्रह्मचर्य की प्राप्ति करना, क्योंकि यहां घर में रहकर उस चीज की प्राप्ति नहीं हो सकती थी, लेकिन किया क्या कि भगवान के पास भी परिग्रह का बोझ ही लाद ले गये। अरे इतना बोझ तो घोड़ा भी लादना नहीं चाहता, पर यह सुभट तो इन घोड़ा आदिक तिर्यन्चों से भी गया बीता बन रहा है। यह मानता है कि मैं बड़ा अच्छा बन गया। अरे कहां हुई यहां प्रभु की उपासना ? इस परिग्रह के भाव में रहकर तो प्रभु की भक्ति नहीं होती, ब्रह्मचर्य की स्थिति नहीं बनती। इस ब्रह्मचर्य की स्थिति के लिए इन सब चीजों से विरक्त होना होगा। जिनके परिग्रह के संचय का भाव लगा है और परिग्रह संचार्य के बाद जो ऐसा मानता है कि मैंने बड़ा काम कर लिया, उसे तो ऐसा समझो जैसे गर्मी के दिनों में गधा घास चार कर कुछ ऐसी ऐंठ दिखाता है कि देखो मैंने इतनी जमीन की घास चार ली। अरे ये सब परिग्रह विकल्प मोक्ष मार्ग में बढ़ने के लिए बाधक हैं। जिन्हें मोक्ष मार्ग में बढ़ना है और ब्रह्मचार्य का लाभ लूटना है उन्हें चाहिए कि उन समस्त प्रकार के अंतरंग बहिरंग परिग्रहों को त्याग दें। वे समस्त प्रकार के क्रोध, मान, माया लोभ आदिक विकार भाव हैं। ऐसा यथार्थ परिचय पाकर इनसे पृथक होकर अपने आपके ज्ञाता दृष्टा स्वभाव

में तल्लीन हों इसी को कहते हैं ब्रह्मचर्य ।

बाह्य परिग्रह तो बाहर ही पड़ा है, इसका तो त्यागना ही क्या है ? वह तो प्रकट ही अलग पड़ा है, पर तत्सम्बन्धी जो अंतरंग मूर्छा आदिक के परिणाम हैं, अनेक प्रकार के विकल्प हैं उनको त्यागने की जरूरत है । प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि कदाचित किसी प्राणी का घात हो जाय तो उससे कर्मबन्ध हो भी अथवा ना भी हो, यहां तो ऐसा वैकल्पिक आख्यान है लेकिन बाह्य पदार्थों का संसर्ग नियम से कर्मबन्ध का कारण है, क्योंकि बाह्य पदार्थ मूर्छा के सद्भाव से ही रखे जाते हैं । अस्तु इन समस्त प्रकार के अंतरंग बहिरंग पदार्थों का त्याग कर एक निज आत्मस्वभाव में ही रमण करने की प्रेरणा आज का यह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म दे रहा है ।

इस ब्रह्मचर्य धर्म में मुख्यता है कुशील पाप के त्याग की । देखो स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है स्पर्श, रसना इन्द्रिय का विषय है रस, इसी प्रकार घ्राण इन्द्रिय का विषय है गंध, चक्षु इन्द्रिय का विषय है रूपावलोकन और श्रोत्रइन्द्रिय का विषय है रागरागनी के शब्दश्रवण आदि, पर इनमें जो स्पर्श इन्द्रिय का विषय है स्पर्श, उसको अलग से पापों में कुशील नाम से गिनाया गया है । यह कुशील सेवन एक बड़ा ही मलिन परिणाम है, जहाँ नाना प्रकार के विषय संस्कार लगे हैं वहाँ होता है कुशील का परिणाम । इसलिए इस अब्रह्मचर्य से बचने के लिये स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना चाहिए । इस स्पर्शन इन्द्रिय का लगाव क्यों होता है कि शरीर में ऐसी बुद्धि बनी है कि यह शरीर सुन्दर है । अरे लोक में कोई भी पदार्थ सुन्दर नहीं है । जगत में दिखने-

वाली ये सुन्दर वस्तुयें क्या हैं? सुन्दर का अर्थ ही क्या है सो देख लो—सु उपसर्ग है, उन्दी क्लेदने धातु है और उसमें अरच् प्रत्यय का अर लगा है। अर्थ यह हुआ कि जो अच्छी तरह से क्लेश करे, दुःखी करे, तड़फा तड़फाकर मारे उन्हें कहते हैं सुन्दर। तो इन सब सुन्दर पदार्थों से मैं जुदा हूं। लोग इस शरीर को देखकर ही रीझते हैं? क्या कोई आत्मा को देखकर रीझता है? यहां तो माया की माया से पहिचान हो रही है। सूरत से सूरत की पहिचान हो रही है। सूरत से सूरत की रीझ हो रही है। मूरत का मूरत से ही परिचय हो रहा है। जरा इस शरीर का स्वरूप तो देखो कैसा है जिसपर लोग इतना रीझ रहे हैं, आशक्त हो रहे हैं। अरे यह शरीर महा अपवित्र है। यह तो मलमूत्र आदि महा गंदी चीजों से भरा हुआ है। इसमें क्या रीझना, क्या आसक्त होना; प्रीति करो अपने अनुपम सुन्दर ब्रह्मचर्य स्वरूप से। उसी को निरखो, उसी में चर्या करो, ऐसा यत्न बनाना ही श्रेयस्कर है। कोई एक राजपुत्र था, वह एक बार उसी नगर के किसी सेठ की पुत्रवधू के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया। उससे मिलने की वांछा हुई, चिन्तातुर रहने लगा। एक दिन उसकी दासी ने उस राजपुत्र की उदासी का कारण पूछा, तो राजपुत्र ने बता दिया। कि अपने नगर के अमुक सेठ की पुत्रवधू से मिलने की मेरी वांछा है।—ठीक है, हो जायगा मिलन, कौनसी बड़ी बात है? वह दासी पहुंची सेठ की पुत्रवधू के पास, जाकर सारा हाल कह सुनाया। पुत्रवधू तो थी शीलवती अतः वह बोल उठी कि ऐसा कभी नही हो सकता। पर उस राजपुत्र को यदि मेरे सौन्दर्य से प्रीति उत्पन्न हुई है तो कह देना कि आज से १५ वें दिन आकर मिल जावे। दासी ने आकर राजपुत्र को बताया, तो उसे बड़ा सन्तोष हुआ। उधर उस सेठ की पुत्रवधू ने १५ दिन के अन्दर क्या किया कि जुलाब लेना शुरू कर

दिया और जो भी मलमूत्र, खून आदिक था वह सब एक हंडी में भरती गयी। १५ दिन में वह वहू सूखकर कांटा हो गयी। उसकी शक्ल भी वदल गयी, आखिर उसने क्या किया कि उस मलमूत्र आदिक से भरी हांडी को वाहर से खूब कागज, वस्त्र, रंग आदिक से सजा दिया और उसका मुख वन्द कर दिया। जव १५वें दिन राजपुत्र मिलने आया यो उसकी शक्ल देखकर उसे पहिचान ही न पाया। तो वह वोली कि ऐ राजपुत्र तुम मेरे जिस सौंन्दर्य से प्रीति कर रहे थे वह सौन्दर्य तो वह देखो हांडी में भरा रखा है। करलो उससे चाहे जितनी प्रीति। तो ज्यों ही राजपुत्र ने उसे खोलकर देखा तो मारे दुर्गन्ध के वहां से भगा और अपने घर चला गया। तो अव परख लीजिए कि जिन सूरतों में इतनी प्रीति के परिणाम वसाये हुए हैं उन सूरतों में क्या भरा है? सो विचार करलो अरे जिस प्रकार से वह विष्टा से भरी हांडी थी, ऊपर से कागज आदिक से मढ़कर सुन्दर वना दी गयी थी उसी प्रकार की वात तो इन दिखने वाले शरीरों में है? ये वाहर से देखने में वड़े चिकने चोपड़े सुन्दर लग रहे हैं, ऊपर से पतली चामकी चादर मढ़ी हुई है इससे इसकी सारी अपवित्रता ढकी हुई है। वस्तुतः तो यह शरीर अति घिनावना है। महाअपावन वस्तुओं का घर है। शरीर के जिस सौन्दर्य को देख देखकर मुग्ध हो रहे हैं वह शरीर तो महामलिन हैं, उससे ममत्व करना, प्रीति करना, स्नेह करना यह तो एक विल्कुल व्यर्थ की चीज है। आचार्य देवने कहा है कि जैसे सूकर विष्टा का सेवन करने से घृणा नहीं करता इसी प्रकार यह संसारी विपयाभिलापी प्राणी भी इस विषय सेवन को करते हुए घृणा नहीं करता शरीर स्वरूप की अनित्यता व उसकी अशुचिता के सम्वन्ध में एक उर्दू शायर ने अपनी शेर में कहा है कि—

आदमी का जिस्म क्या है, जिसपै सैदा है जहाँ।
एक मिट्टी की इमारत, एक मिट्टी का मकां॥
गारा इसमें खून है, अरु ईंट इसमें हड्डियाँ।
चंद सांसों पर खड़ा है, यह खयाली नूर सां॥
मौत की पुरजोर आंधी, इससे जब टकरायगी।
दम के दममें यह इमारत, टूट कर गिर जायगी॥

तो फिर इस असार अशुचि अनित्य शरीर के प्रति क्या आकर्षण रखना ? अपने विशुद्ध परम पावन ज्ञान दर्शन स्वरूप ब्रह्म में ही लीनताका भाव रखें।

जो ब्रह्मचारी है उनके तो स्त्री विषयक विकल्प ही नहीं उठता और यदि स्त्री विषयक विकल्प उठता है तो वह ब्रह्मचारी नहीं है। इस ब्रह्मचर्य धर्म पालन के सिलशिले में मूल में यह काम करना है कि यथार्थ रूप से इस ब्रह्मचर्य का स्वरूप समझ कर समस्त प्रकार की विषय वासनाओं से विमुक्त होकर निर्मल बनना सीखें। केवल एक स्त्री मात्र का त्याग कर दिया, इतने मात्र से ही अपने को ब्रह्मचारी न मानें, किन्तु ब्रह्मचर्य शब्द का जैसा अर्थ है-ब्रह्म अर्थात् सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप में चर्या अर्थात् आचरण करने वाला—ऐसा सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप में अपने को आचरण करने वाला बनायें तो समझिये अपने को ब्रह्मचारी। अपने आपकी शान्ति के अर्थ समस्त प्रकार के दुर्भावों का त्याग करना और अपने आपके ज्ञानानन्द स्वरूप में लीन होना, आचरण करना, सो है ब्रह्मचर्य।

इन दशलक्षण धर्मों में यद्यपि सभी कषायों के त्याग की बात आयी है, पर इस ब्रह्मचर्य धर्म में काम वासना का त्याग पंचेन्द्रिय के विषयों का त्याग, इसकी मुख्यता है। इन विषय

वासनाओं को त्याग कर अपने परिणामों में, अपने विचारों में शुद्धि (पवित्रता) लाने के लिए इस कुशील पाप के त्याग की मुख्यता है। जैसे स्वर्ण से स्वर्णाभूषण और लोहे से लोहाभूषण आदि बना लिए जाते हैं, इसी प्रकार से अपने आपके शुद्ध विचारों से, शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। यदि हमारे विचार अशुचि हैं, मलिन हैं तो आत्म स्वरूप पर भी वही असर पड़ेगा। फलतः आत्मा में अशुद्धता का प्रादुर्भाव होगा। और यदि अपने आपके शुद्ध विचार बनालें, अपनी शुद्ध चर्या हो योग्य संगति हो शुद्ध वातावरण हो तो इससे शुद्ध विचार उत्पन्न होते हैं। जिन्हें अपने आपके इस ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी हो उन्हें इस ब्रह्मचर्य को अपनाना ही होगा। चरणानुयोग के अन्तर्गत शील की जो ९ बाड़ें कही हैं उनके पालन बिना इस ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं हो सकती। अस्तु ९ बाड़ो को अपने चित्त में उतारें, जिससे कि इस शील के, चारित्र के, ब्रह्मचर्य के भंग होने को गुंजायस न रहे। चरणानुयोग के विधि विधान के अनुसार चलना सीखें, इससे ब्रम्हचर्य व्रत स्थायी रहेगा। चरणानुयोग विधान में बताया है कि ब्रम्हचारी को एकान्तस्थान में किसी स्त्री से बात नहीं करना चाहिए। जब उन ब्रह्मचर्य पालने वाले मुनियों के लिए एकान्त में स्त्री जनों से चर्चा करना मना किया गया है तो फिर हम आप लोगों की तो बात ही क्या है। जहाँ चारित्र अत्यन्त सिथिल है और ज्ञान की अल्पता है। अपने आपके शुद्ध विचारों के लिए शुद्ध-अवलम्बन का होना आवश्यक है। पद्मनन्दी महाराज ने कहा है कि जैसे कुम्हार के चाक का आधार उस चाक की कीली है और उस पर रखे हुए मिट्टी पिण्ड में अनेक पर्याय बनती हैं, ठीक इसी प्रकार संसार रूपी चाक का आधार स्त्री है, और अनेक प्रकार के विकार करके जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। देखिये—यहाँ जो कुछ भी कहा जा रहा है उसमें किसी

को बुरा लगने की जरूरत नहीं है; क्योंकि जो बात स्त्रियों के लिए कही जा रही है वही बात पुरुषों पर भी लागू होगी। दोनों पक्षों को साथ-साथ लेकर समझते रहना चाहिए।

अपने आपके अन्दर उठने वाला जो अज्ञान मलिन परिणाम है वही वास्तव में पाप है। मूलतः हम आपको उस अज्ञान, मलिन परिणाम को, विषयाभिलासायों को ही त्यागना है। परन्तु ये सब पापरूप परिणाम इन बाह्य विषयभूत पदार्थों का आश्रय लेकर हुआ करते हैं इसलिए इन विषयभूत पदार्थों से भी अत्यन्त दूर रहना आवश्यक बताया गया है।

ब्रह्मचारी को स्त्रियों के सहवास में रहकर अपने ब्रह्मचर्यव्रत की परीक्षा करने का आदेश वीतराग- सर्वज्ञदेव के शासन में नहीं है। अगर कोई ब्रह्मचारी स्त्री सहवास में रहकर अपने ब्रह्मचर्य की परीक्षा करना चाहे तो उसका यह अज्ञानताभरा प्रयास है। उसके इस बहाने को कदापि नहीं माना जा सकता। अरे यह स्त्री तो इस संसार के परिभ्रमण का मूल ही है, इसलिए उस स्त्री संसर्ग से दूर रहकर अपने आपके आत्मस्वरूप की परमार्थदृष्टि बनाकर समस्त प्रकार के काम विययक विकारभावों से दूर हों और अपने जीवन में संयम नियम तथा विशुद्धता का परिणाम बनाये रहें। इस ही से इस ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा होती है। शरीर के स्वभाव को जानकर शरीर में रमण करना योग्य नहीं है। देखिये—५ बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकरों की बात कि, क्या उनके पास सब प्रकार के वैभव न थे? भोग सामग्री क्या न थी? सब कुछ था उनके पास, पर उन्होंने इस समस्त पर पदार्थों में रंच भी सार की बात न पायी, उनके प्रति हृदय में विरक्ति के परिणाम

हुए, समस्त संसार को असार जानकर उन्होंने निर्ग्रन्थता को अंगीकार किया।

आखिर यहां के समस्त प्राप्त समागम एक दिन छूटने तो हैं ही। चाहे जीते जी छूट जायें या मरणसमय में छूटें, परन्तु विवेक तो इसी में है कि उन्हें जीते जी ही छोड़ दिया जाय। बहुत से विवेकीजन ऐसे भी होते हैं जो इन विषयभोग के साधनों का नाम मात्र सुनकर, उनका कुछ स्वरूपरिचय कर उन्हें छोड़ देते हैं। कुछ लोग कुछ दिन उन्हें भोग कर छोड़ देते हैं। और उत्तम वे हैं जो भोग भोगें नहीं, उन्हें पहले से ही छोड़ दें। इसीलिए तो गुणभद्राचार्य ने कौमार ब्रह्मचारियों की स्तुति की है, कि धन्य हैं वे कौमार ब्रह्मचारी वे ही आदर्श त्यागी हैं। एक दृष्टान्त है कि कोई एक भंगिन प्रति दिन मल से भरा हुआ टोकना लेकर बाजार के रास्ते से निकला करती थी। उससे बहुत से लोगों को घृणा होती थी। एक दिन किसी कपड़े के व्यापारी ने उस भंगिन को एक अच्छी साफ तोलिया दिया और कह दिया कि देखो तुम इस मल के टोकने को प्रतिदिन इस तोलिये से ढककर ले जाया करना, क्योंकि बहुत से लोगों को उसे देखकर घृणा पैदा हो जाती है। एक दिन की बात कि वह भंगिन मलका टोकना लिए उपर से वही तौलिया ढके हुए चली जा रही थी। तो उसे देखकर कोई तीन विषयाभिलाषी पुरुष उसके पीछे लग गये। वे समझ रहे थे कि इसके टोकने में कोई अच्छी चीज है, क्योंकि उसे बड़े ही सुन्दर साफ तौलिये से ढके हुए है। सो थोड़ी दूर चलकर भंगिन ने देखा कि कोई तीन व्यक्ति हमारे पीछे लगे हैं। सो पूछ बैठी कि भाई तुम लोग हमारे पीछे क्यों लगे हो? तो उन तीनों ने कहा कि हम यह जानने के लिए तुम्हारे पीछे लगे हैं कि तुम तौलिया से ढके हुए इस टोकने में क्या चीज लिये

जा रही हो। तो उसने कह दिया कि इसमें मल है। तो उनमें से एक विवेकी पुरुष इतना सुनते ही लौट गया। दो व्यक्ति अभी भी पीछे लगे रहे।—क्यों पीछे लगे हो?—हम तो देखकर ही विश्वास करेंगे।–लो देख लो (खोलकर दिखा दिया) तो उनमें से एक और वापिस लौट गया। एक व्यक्ति अभी भी पीछे लगा रहा।–भाई क्यों पीछे लगे हो?–हमें तो अभी तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं होता। हमें तो तब विश्वास होगा जब सूंघ सांघकर अच्छी तरह परख लेंगे। सो जब सूंघसांघकर अच्छी तरह परख लिया तब वह वापिस लौटा। तो देखिये–जैसे वह मलका टोकना तौलिये से ढका हुआ था ऐसे ही यह दिखने वाला चिकना मल-पिण्ड शरीर भी इस पतली चामकी चादर से ढका हुआ है, मढा हुआ है। इसी से इस शरीर की सारी गंदगी इसके अन्दर ढकी हुई है। अरे इसके अन्दर है क्या? मलमूत्र, खून, पीप, नाक, थूक, कफ, खकार, हड्डी, मांस, मज्जा आदिक मलिन पदार्थ। यही सब महा घिनावनी चीजें इस देह के अन्दर भरी हुई हैं। इसके समान अपवित्र चीज और कौन सी बतादी जाय।

तो ऐसे अपवित्र मलमूत्रादिक युक्त महा घृणित शरीर में ये विषयाशक्त पुरुष कितने मुग्ध हो रहे हैं, लुभा रहे हैं। ऐसे इन मोहान्ध प्राणियों को आचार्य जन समझाते हैं कि हे आत्मन्, देख जिस शरीर में तूं इतनी रति करता है, जिसे तूं सुन्दर समझ कर व्यामुग्ध हो रहा है ऐसा यह शरीर तो महागंदा है, निस्सार है। तूं क्यों व्यर्थ में इसके पीछे लगा हुआ है? आचार्य देवकी इतनी बात, सुनते ही वे कौमार ब्रह्मचारी तो वापिस लौट गये, अर्थात् उन्होंने इन विषयों को बिना भोगे ही तिलांजलि दे दी, परन्तु दूसरे सुभट, दूसरे नम्बर वाले ऐसे निकले कि जिनको आचार्य जनों की

बात का विश्वास ही न हुआ। सो उन्होंने उन भोगों को कुछ भोग कर ही छोड़ा। चलो वे भी अच्छे ही रहे, पर तीसरे नम्बर के जो महा व्यासक्त मोही अज्ञानी प्राणी हैं वे उन ही विषय भोगों में अब भी रच पच रहे हैं। बरबाद हो रहे हैं, पर उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। ऐसे व्यासक्त पुरुषों के लिए आत्म स्वरूप की दृष्टि अत्यन्त दूर है।

अरे याद करो उन व्यक्तियों के दृष्टान्त कि जिनके पास सर्व-प्रकार के सुख साधन थे, सब प्रकार की विभूतियां थीं, पर उन्होंने किस तरह से इस ब्रह्मचर्य रक्षा के हेतु अपना सर्वस्व त्याग दिया। देखो उन पार्श्वनाथ प्रभु को, उन महावीर प्रभु को जिन्होंने बाल्या-वस्था में इस काम भाव को दूर कर दिया।

अनिर्वारोद्रेक स्त्रिभुवन-जयी काम-सुभटः।
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः॥
स्फुरन्नित्यानन्द प्रशम-पद-राज्याय स जिनः।
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥

ऐसे महावीर स्वामी हम सबके लिए मार्ग दर्शी होवें। कैसे हैं वे वीर प्रभू? अनिर्वार है वेग जिसका और तीन लोक को जीत लिया है जिसने ऐसे कामरूपी सुभट कों जिन्होंने कुमार अवस्था में ही निज आत्म बल से जीत लिया, किस लिए? अपने आप में प्रकट हुए नित्य आनन्द और वृद्धि को प्राप्त प्रशम पद की राज्य की रक्षा के लिए। ऐसे महावीर स्वामी हम सब की रक्षा करो। कुलभूषण देशभूषण की याद करलो, निकलंक, अकलंक की बात याद करलो, आखिर उन्होंने क्या किया? कैसा पवित्र परिणाम उनके जगा कि अपने आपकी रक्षा के लिए अपना सर्वस्व त्यागकर इस आत्म प्रभु की शरण ली, और इसी कारण वे कल्याण

के पात्र बने। इन पौराणिक पुरुषों से हमें शिक्षा लेना चाहिए और इस जीवन में ब्रह्मचर्य को अपनाना चाहिए। आजकल तो मातपिताओं ने भी अपने बालकों एवं बालिकाओं को स्वतंत्र छोड़ दिया है। आजकल ऐसे-ऐसे अस्लील वस्त्र चले हैं जिनके पहिनने से अंगोपांग दिखते हैं, बल्कि यों कहलो कि वेश्याओं में और इन बालिकाओं में अन्तर नजर नहीं आता। उनके उभरे हुए अंग स्पष्ट दिखते हैं और उनके माता पिता इस बात की अनुमोदना करते हैं कि अब तो हमारी लड़की सुन्दर लगेगी। अरे यदि धर्म की रक्षा करनी हो तो सात्विकता की पद्धति को ही अपनाना होगा। इन चमक दमक तड़क भड़क के पहनाओं को बदलना होगा, और उनको शिक्षण इस ढंग का देना चाहिए कि अस्लील उपन्यासों को, गंदी पुस्तकों को मत पढ़ो। पढ़ो उन शीलवती सीता, अंजना, द्रोपदी, मैना सुन्दरी आदि के पावन चरित्रों को। उनके चरित्र पढ़ने से बड़ी प्रेरणायें मिलेंगीं और जीवन धार्मिकता की ओर ढलेगा। ये सब सुधार लाने की जिम्मेदारी इन मात-पिताओं पर है। (देखिये कुछ बातें चित्त में खटकती हैं इसलिए कहनी पड़ रही हैं, इसमें बुरा मानने की आवश्यकता नहीं) माता-पिता के संस्कार, उनका व्यवहार उनकी संतानों पर पड़ा करता है। यदि स्वयं ही अच्छे आचरण से, अच्छे व्यवहार से रहेंगे, स्वयं ही सात्विकता को अपनायेंगे और बच्चों में भी उसी तरह के संस्कार डालेंगे तब तो समझिये कि वे मात-पिता अपनी संतानों का हित सोच रहे हैं, नहीं तो यह समझ लीजिये कि वे मातपिता उन बच्चों के अहित पर ही उतारू हैं।

ये देखने में तो छोटी छोटी बातें हैं, लेकिन ये छोटी-छोटी व्यवहार की बातें भी अपना बड़ा महत्व रखती हैं। अभी से यदि इन छोटी-छोटी बातों पर ध्यान दिया जायगा तो आगे चलकर इनका

सुधार भी हो सकता है। उनके सुधार से ही आगे प्रगति करने का रास्ता मिलेगा। और अगर इन छोटी छोटी वातों पर ध्यान न दिया तो आगे चलकर इसका परिणाम खराव होगा। इस ब्रह्मचर्य के पाठ को आप सव वड़े लोग स्वयं भी पढ़िये और घर के वच्चों को भी पढ़ाइये। आजकल जो अस्लील पुस्तकें चली हैं या सनीमा वगैरह जो अश्लील चित्र चले हैं उनकी ओर से उन बच्चों का चित्त हटाकर उन्हें धर्म मार्ग में वढ़ने का प्रोत्साहन दीजिये। उन्हें यदि धार्मिक शिक्षण प्राप्त करने की ओर प्रेरित किया जायगा तो उनकी धर्म की ओर रुचि वढ़ेगी, महापुरुषों के चरित्र को पढ़कर, इन सतियों के चरित्र पढ़कर उन्हें वड़ी प्रेरणायें प्राप्त होंगी। धन्य हैं वे पुराण पुरुष जिन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन करके अपने जीवन को सार्थक वनाया और दुनियां के सामने अपना जीता जागता आदर्श छोड़ा।—देखिये सेठ सुदर्शन को, उसको डिगाने के लिए रानी के द्वारा कितने प्रयास किये गये, पर वे अपनी ब्रह्मचर्य की साधना में अटल रहे। जरा भी विकारभाव को प्राप्त नहीं हुए। ऐसी जिनकी साधना वनी उनका ही जीवन सफल है। ब्रह्मचर्य की साधना विना मनुष्य जीवन क्या ? उसे तो पशु पक्षियों जैसा जीवन समझिये।

तो हम आपका कर्तव्य है कि शीघ्र ही अपने आपकी सम्हाल कर लें और भली प्रकार से जीवन में सुख शान्ति का मार्ग प्राप्त करलें। बालकों पर मात पिता का कितना असर पड़ता है इस वात को एक दृष्टान्त द्वारा समझिये। एक ब्राह्मण माता पिता का एक पुत्र था। वह पुत्र अच्छे विचारों का था। पुत्र के वड़ा होने पर मात पिताने कहा वेटा शादी करलो। तो वह शादी करने के लिए सदा मना करता था। जब मां वाप ने वहुत

विवश किया तो कहा—अच्छा कर लेंगे, पर अंधी लड़की से करेंगे। अच्छी बात। (उसका कुछ ऐसा ही विचार था) सो एक अंधी लड़की के साथ शादी करली। उससे तीन बच्चे उत्पन्न हुए। एक दिन उसकी स्त्री नें कहा कि आप तो बहुत से मंत्र तंत्र जानते हैं, कृपा कर हमारी आंखें खोल दीजिये।—आप आंखें मत खुलवाओ।—क्यों? बड़ा बुरा होगा। जब न मानीं तो खोलदीं आखें। बाद में फिर उसके एक बच्चा हुआ। एक दिन स्त्री बोली आपने अभी तक हमारी आंखें क्यों नहीं खोलीं थीं?—अच्छा बतायेंगे। देखो कलके दिन तुम एक काम करना, तुम रिसाने का बहाना करके खाटपर लेट जाना और रोटी न बनाना। बच्चे अगर पूछें कि मां तुमने खाना आज क्यों नहीं बनाया? तो कह देना कि तुम्हारे पिता जी हमें मारते हैं इसलिए आज हमने खाना नहीं बनाया। स्त्री ने वैसा ही किया। खाना न बनाया। तो अंधी दशा में जो पहिला बालक उत्पन्न हुआ था वह आया—पूंछा मां आज खाना क्यों नहीं बनाया?—बेटा तुम्हारे पिता जी हमको मारते हैं इसलिए नहीं बनाया।—मां आप मेरी मां हैं, वह मेरे पिता हैं। खाना दें या न दें पर हमें भूखा तो न रखना चाहिए। इस तरह के विनम्र वचनों में बोला। यों ही जब दूसरे और तीसरे बालकों ने आकर पूछा तो मां ने वही बात कही। उन दोनों ने भी उसी पहिले बालक जैसे विनम्र वचनों में कह दिया, पर जब चौथा बालक (नेत्र खुली दशा में उत्पन्न हुआ बालक) आया और पूछा मां आज तुमने खाना क्यों नहीं बनाया?—बेटा तुम्हारे पिता जी हमें मारते हैं इसलिए खाना नहीं बनाया।

—अरी मां तुम खाना बनाओ, हम देखते हैं उस बापसाप को। बाद में स्त्री ने सब बालकों द्वारा कही हुई बातें पति को

बतायीं। तो पति बोला देखो–वे तीन बालक जो तुम्हारी अन्धी दशा में उत्पन्न हुए थे उनके अन्दर कैसी विनय है और इस चौथे बालक की उद्दण्डता का ध्यान दो। तुम स्वयं ही परख गयीं होगी–बताओ चौथे बालक के गर्भ के समय तुम्हारे भावों में कुछ विचार उठा था क्या? तो स्त्री बोली–और तो कुछ मलिनता भावों में नहीं आयी, पर एक दिन मैं छत पर खड़ी थी, तो बाहर जाते हुए किसी बलिष्ट नवयुवक को देखकर मन में केवल यह ही भाव जगा था कि देखो यह कैसा बलिष्ट है—तो अब देख लिया तुमने, तुम्हारे इसी भाव का असर पड़ा है इस बेटा पर। इसलिए मातपिता के विचारों का कितना बड़ा असर उनकी संतानों पर पड़ता है, ऐसा जानकर कभी बच्चों के सामने हंसी मजाक आदिक नहीं करना चाहिए और न ही अपवित्र विचारों को उठने देना चाहिए। जीवन में यदि अपने जीवन का उत्थान करना है तो इस ब्रह्मचर्य का पूर्णरूपेण पालन करें। पूर्णरूपेण यदि इस व्रत को पालन करने में असमर्थ हैं तो स्वदारसंतोष-वृत्ति से रहें, दुनियां की सारी स्त्रियों को अपनी माँ बहिन बेटी आदि की तरह समझें और अपनी स्वस्त्री में भी लम्पटता न रखें, वहाँ भी विरक्ति भाव से रहें। नाना प्रकार की मर्यादाओं में रहें, अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टान्हिका, दसलाक्षणी आदि पर्वो के अवसर पर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहें, और गर्भ में संतान आने से लेकर ३ वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रहें। स्त्री संसर्ग न करें, ऐसा करने से होने वाली संतान बलिष्ट होगी, बुद्धिमान होगी, कर्त्तव्यशील और निरोगी होगी। आप के लिए सुखसाता का कारण बनेगी। इसके विपरीत यदि विषय सेवन की लम्पटता रखी, ब्रह्मचर्य का ध्यान न दिया तो फल यह होगा कि संतान रोगी, बुद्धिहीन और परेशानी तथा चिन्ताओं का कारण बनेगी। उनके द्वारा

सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक किसी भी क्षेत्र में कोई उत्थान की बात न बन सकेगी। वह तो सबके लिए भार रूप रहेगी। और उस संतान का भी जीवन स्वयं कष्ट में व्यतीत होगा। इन सब बातों को भली भांति समझ कर इस ब्रह्मचर्य के पालन का पूर्ण ध्यान दें।

इस कुशील सेवन को अलग से पाप बताया है। इसका कारण यह है कि कामी पुरुष अंधा हो जाता है, वेसुध हो जाता है, उसकी बुद्धि हर ली जाती है। जिस तरह मदिरापान से पुरुष बेहोस हो जाता है उसी तरह कामान्ध पुरुष भी अपना सारा बल समाप्त कर देता है। इस कुशील सेवन से इस आत्मा का कुशल, हित, जड़ से नष्ट हो जाता है। उसे अपने आत्म-स्वरूप का भान करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। "ब्रह्मचारी सदा सुखी, शुची'। ऐसा लोग कहते भी हैं। तो कारण क्या है ऐसा कहने का कि ब्रह्मचारी पुरुषों को पर द्रव्यों में रमण करने की वाछा ही नहीं रही, उन्हें अपने आपकी ओर झुकने का रमण करने का मौका मिलता है। गृहस्थों को जो ब्रह्मचर्य का, विधान है उसमें बताया है कि गृहस्थजन स्त्रियों से रागयुक्त वचन व्यवहार न रखें। हास्ययुक्त वचन न बोलें। उनके संसर्ग से दूर रहें, तभी वे अपने ब्रह्मचर्य व्रत को उत्तम रीति से निभा सकते हैं। नहीं तो उन्हें पतित होने का भय सदा रहता है। ऐसे पतित पुरुष की दशा तो सप्तम नरक के नारकी से भी बढ़कर बतायी गई है। कदाचित् सप्तम नरक का नारकी जीव सम्यक्त्व उत्पन्न करले, पर विषयान्ध जीव सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकने का पात्र नहीं।

आज इस दशलक्षण पर्व का अन्तिम दिन है। हम आप

सबने दश लक्षण धर्म के प्रवचन इन दश दिनों में मनोयोग पूर्वक सुने। अब इन धर्मों को अपने चित्त में उतारें, अच्छी तरह से उनकी साधना करें तो जीवन में एक नया परिवर्तन आयगा। जैसे आतसी कांच होता है, उसको सूर्य के प्रकाश में रखकर सूर्य की किरणें केन्द्रित की जायें, और पास में कागज के छोटे-छोटे टुकड़े रख दिये जावें तो उसका तेज उन टुकड़ों को जलाकर ध्वस्त कर देता है, ठीक इसी प्रकार यदि इन दस प्रकार के धर्म के लक्षणों को यथा शक्ति पालन किया जाय, आत्मा में इन्हें केन्द्रित करें तो इस आत्मारूपी आतसी सीसे में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होगी कि उसके तेज से सभी पूर्ववद्ध कर्मरूपी कागज के टुकड़े शीघ्र ही ध्वस्त हो जायेंगे।

अव इन दस प्रकार के धर्म के लक्षणों का क्रम भी इसी प्रकार से है। सर्वप्रथम अपने अन्दर क्षमा का भाव लायें, संसार के प्राणिमात्र के प्रति करुणा का भाव लावें, अपने आपके आत्म स्वरूप पर क्षमाभाव जगे, फिर इन समस्त प्रकार की कषाय भावों पर (क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहादिक पर) विजय प्राप्त करें तो उससे फिर सत्य प्रकट होगा, फिर संयम का धारण होगा। फिर तपश्चरण करना होगा। सब प्रकार के पर पदार्थों का, रागादिक भावों का त्याग करना होगा। सर्व परत्याग से उत्तम आकिंचन्य की प्राप्ति होगी। अपने को आकिंचन्यस्वरूप की प्राप्ति होने के वाद आत्मरमण, उत्तम ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होगी। तो इन दसलक्षण धर्मों के पालन का फल भी अन्त में इस उत्तम ब्रह्मचर्य की प्राप्ति करना है। इस उत्तम ब्रह्मचर्य की प्राप्ति करना कितना दुर्लभ है। इस पर्व को केवल इन दस दिनों में ही नहीं मनाना है परन्तु जीवन भर मनाना है। ये पर्व आते हैं हम आपको सम्बोधने के लिए। जैसे हम आपके इन

दिनों में बड़े पवित्र विचार रहते हैं, धर्मपालन की एक धुन सी रहती है, उस तरह के पवित्र विचार, पवित्र धुन, सदा रहना चाहिए। यह बात यदि आ गयी तो इन पर्वों का मनाना सार्थक समझिये और तभी इस आत्मा का कल्याण हो सकता है।

एक बात और भी देखिये—यह काम अनंग है, मनसिज है, दुःखकर व्याप्त है, इस काम व्यथाकर व्याप्त जो मन है उसमें जैन धर्म का मर्म घर नहीं कर सकता। अतः धर्म का मर्म पाने के लिए इस काम व्यथा को तिलांजलि देनी होगी। अब इस काम व्यथा का विषयभूत कारण जो स्त्री है। उस स्त्री शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्दों का मर्म पहिचान लीजिये। स्त्री को नारी कहते हैं, नारी का अर्थ है—न अरि, अर्थात् जिसके समान अन्य कोई शत्रु न हो सो नारी। पत्नी, अर्थात् पतन कराने वाली। यह स्त्री इस पुरुष को पतन कराने में कारण है। अबला—अर्थात् जो बलहीन बनादे, यह स्त्री पुरुष को बलहीन बनाने में भी कारण है। वधू जो इस संसार का बन्ध कराने में कारण है सो वधू। बामा—जो मायाचार से भरी हुई हो सो बामा। बामलोचना—जिसके नेत्रों में कुटिलता भरी हो सो बामलोचना। तो ये सभी शब्द इस बात को बताने वाले हैं कि यह स्त्री महा-दुःख और दोषों की खान है। अतः इसका संसर्ग करना विवेकी पुरुषों का कर्तव्य नहीं है। प्रत्येक कल्याणार्थी पुरुष का कर्तव्य है कि वह स्त्री सम्भोग विषयक प्रसंगों से दूर रहकर इस पवित्र ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करे।

इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से सभी प्रकार के पाप कर्मों का त्याग हो जाता है। जहां स्त्री सम्बन्धी राग हटा कि वहां आरम्भ परिग्रह सम्बन्धी सारी बातें स्वतः ही घट जाती। हैं

स्त्री को ही तो घर कहते हैं। कहीं ईंट, पत्थर, चूना आदिक से बनी हुई दीवालों को घर नहीं कहते। घर तो स्त्री ही है। एक इस स्त्री के ही कारण इस पुरुष को आरम्भ परिग्रह के कार्यों में फंसना पड़ता है, इससे उसका वहां से निकलना फिर मुश्किल हो जाता है। वह पुरुष अपने को वद्ध दशा में अनुभव करता है वह ईंट पत्थरों के घर से नहीं वंधता। घर तो दूर ही पड़ा है, पर स्त्री विषयक नाना प्रकार के जो विकल्प जाल हैं उनमें पड़कर यह पुरुष वंधा वंधा फिरता है। तो ऐसी सव वातें जानकर इस स्त्री संसर्ग का त्याग करें और तद्विपयक समस्त पर पदार्थों की लालसा अपने चित्त से हटाकर एक इस आत्म-स्वरूप की रक्षा करें, अपने निजभाव में आयें, उसी में स्थिति पायें, यही है उत्तम व्रह्मचर्य। ऐसे व्रह्मचर्य का अखण्ड पालन करना यही है वास्तव में जीवन की सार्थकता। इन धर्मों को अपनाना ही हम आपको योग्य है। पर यह वात ध्यान में रखने की है कि एक इस व्रह्मचर्य धर्म को अपना लेने से ही समस्त धर्म स्वतः ही उसमें आ जाते हैं। इस उत्तम व्रह्मचर्य के लिए इस व्यवहार व्रह्मचर्य का (लौकिक व्रह्मचर्य का) पालन करना नितान्त आवश्यक है। ऐसा जानकर इस व्रह्मचर्य का पालन करें, समस्त प्रकार के विकार भावों से हटें और अपने आप में निर्विकल्पता का प्रादुर्भाव करके अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को सार्थक करें। एक वार किसी राजा ने एक साधु के दर्शन किये। राजा वोला—महाराज आपके पास तो वहुत सी सुन्दर-सुन्दर स्त्रियां दर्शन करने को आया करती हैं और जव आप वाजार की गलियों से निकलते हैं तो मार्ग में अनेक प्रकार की मेवा मिष्ठान की दूकानें भी पड़ती हैं। क्या उनको देखकर आप का चित्त चलित नहीं होता ? तो साधु वोला—इसका जवाव हम आपको वाद में देंगे। कुछ दिन

बाद में वह साधु राजा को बुलाकर कहता है कि हे राजन्, अब तो आपकी उम्र सिर्फ ८ दिन की ही शेष रह गयी है, सो जितना चाहे मौज करलो। तो साधु की बात सुनकर राजा का हृदय कांप उठा। अब उस राजा को न राजपाट रूचे, न खाना पीना रुचे, न स्त्री सम्भोग रुचे। मन ही न लगे किसी में। जब ८वां दिन आया तो साधू महाराज उस राजा के महल में पहुंचे और बोले–राजन् आपने तो इन दिनों में खूब मनमाने भोग भोगे होंगे न ? तो राजा कहता है कि हमें तो जब से आपने कह दिया तब से खाना पीना, बोलना–चालना आदि कोई भी चीजें नहीं रुचतीं। मौज लेने की बात तो दूर रही। हमारी दृष्टि तो मात्र उस मृत्यु के समय पर ही रहा करती है। तो साधु बोला—बस यही उत्तर आपके उस प्रश्न का है। जैसे आपकी दृष्टि मृत्यु के दिन पर लगी रही, भोग साधनों पर नहीं, इसी प्रकार हमारी दृष्टि भी बनी रहने से भोग साधन नहीं रुचते। मुझे भी यह निश्चय हो चुका है कि मेरा मरण एक दिन अवश्य होगा। इसलिए मैं यहां के भोग साधनों से अलिप्त रहकर धर्म साधना कर रहा हूँ, क्योंकि मृत्यु का और अपने स्वरूप का मुझे पूर्ण निश्चय हो गया है।

तो हम आपको चाहिए कि यहां के सर्व पर पदार्थों को मायामयी, असार, अहितकर, इन्द्रजालवत् जानकर अपने मन को वासनाओं से, विकारभावों से, पर सम्पर्क से दूर रखें और इस ज्ञानानन्द ब्रह्म में ही रुचि करें, लीनता करें, रमण करें। जैसा कि पूजन में भी पढ़ते ही हैं कि—

शीलवाड़ नौ राख, ब्रह्मभाव अन्तर लखो।
कर दोनों अभिलाष, करहु सफल नरभव सदा ॥

उत्तम ब्रह्मचर्य मनआनी, माता बहिन सुता पहिचानी ॥
सहैं बन वर्षा बहुसूरे, टिके न नयनवाण लख कूरे ॥
कूरे तिया के अशुचि तन में, काम रोगी रति करें।
बहु मृतक सड़हि मशानमांही, काग ज्यों चोंचें भरें ॥
संसार में विषवेल नारी, तज गये जोगीश्वरा।
द्यानत धरम दस पैड़ चढ़के, शिव महल में पग धरा ॥

(ॐ ह्रीं उत्तम ब्रह्मचर्यधर्माङ्गाय नमः)

क्षमावणी पर्व

आज क्षमावणी पर्व का दिन है। हम संसारी जीवों के अज्ञान भाव और कषाय-भावों से अनेक गल्तियां होतीं रहतीं हैं। गृहस्थ आश्रम में तो पद पद पर कषायभाव जागृत होते रहते हैं। अस्तु हम आपने इस पवित्र पर्यूषण पर्व के इन दस शुभ दिनों में जो उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, सौच, संयम, तप, त्याग, आकिन्चन्य और ब्रह्मचर्य, इन दस धर्मों का यथा सम्भव पालन किया, साथ ही पूजा पाठ, जप, तप, स्वाध्याय, दान आदि किया, संयम पाला। यदि ऐसा ही आचरण हम बारहमाह करते रहें तो हमारी आतमा परम पवित्र निर्विकार बन जावे।

आज का महत्वपूर्ण दिन दीपावली की तरह वर्ष भर के जमाखर्च करने को इंगित कर रहा है। हम अपने अपराधों का लेनदेन समाप्त करें, याने सब जन अपनी अपनी कषाय निकाल दें, और हृदय को माया, वक्रता, कुटिलता से अत्यन्त खाली करके

पवित्रता लावें, मलिनता का व्यय करके निर्मलता का लाना ही धर्मपालन है। भैया, आज सांवत्सरिक प्रतिक्रमण का दिन है। यह दिवस हम आप साधकों को बड़े महत्व का दिन है। यदि ऐसे ही पुनीत दिवसों पर भी हम मलिन भावों का परित्याग नहीं कर सकते तो फिर कब करेंगे ? हम आप आज अपने समस्त दोषों का गर्हण, निन्दन करें और आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण की प्रक्रिया से शुद्धि कर लेवें, यही पर्व मानने की सार्थकता है। प्रमादवश वर्ष भर में अन्य जीवों के प्रति मन, वचन, काय से जो अपराध हुए हैं। उसके लिए आज दिन शुद्ध मन से सभी जीवों से क्षमा याचना की जाती है और सभी जीवों को उनके अपराध के प्रति क्षमा किया जाता है, जिससे सभी प्राणियों के साथ राग विरोध के भाव समाप्त हो जावें और हमें समतारूप धर्म की प्राप्ति हो। इससे आध्यात्मिक शुद्धि होकर आत्मा निर्मलता को प्राप्त कर जन्ममरण की संतति को काटने में समर्थ होती है। भैया, हम चाहे उपवास एकासन आदिक व्रत न करें, किन्तु क्षमा करना न भूलें, क्योंकि क्षमा ही धर्म है, और क्षमा (धर्म) ही चारित्र है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्', वास्तव में सच्चा वीर वही होता है जो यदि कदाचित् किसी से उसके साथ विरोध हो जाय तो उससे क्षमा मांगने में संकोच नहीं करता, बल्कि स्वयं अपनी निन्दा करके साम्यभाव को अपनाता है। भैया ! साम्यभाव की ही महिमा है, जिससे कि पुराण पुरुषों ने स्वयं का उद्धार किया और पर का भी। अतएव अपनी कषाय दूर करो और किसी प्राणी से वैर भाव भी हो तो क्षमा मांग लो।

किसी पाप या अपराध बन जाने के बाद हमें अपनी गल्ती स्वीकार करना चाहिए तुरन्त और उसका पश्चाताप भी होना चाहिए, कि यह कार्य अच्छा नहीं किया, ऐसा नहीं करना

चाहिए। भविष्य में कभी ऐसा नहीं करूंगा। इस प्रकार के विचारों से हृदय की कालिमा बहुत कुछ धुल जाती है और अपराध की स्वीकृति पूर्वक जो क्षमा याचना करली जाती है उससे तो पापका भार लघु हो जाता है, और एक अंतः प्रसन्नता भी हुआ करती है।

अपने अपराध को स्वीकार कर लेना मनुष्य की उच्चता का सूचक है। पाप करके अपने अपराध को ही ठीक समझें, अपनी गल्ती को पुष्ट करें, अपना अपराध स्वीकार ही न करें, जान कर भी पाप स्वीकार करने में अन्जान सा बने, इन बातों से हमारी आत्मा का भार पापों से और अधिक बढ़ जाता है। हमारे जीवन को सदैव के लिए अंधकारमय बना देगा। अपराध की स्वीकृति से अपराध भी क्षमा हो जाता और वह लोगों की दृष्टि में भी अच्छा बन जाता है। एक दृष्टान्त है कि एक बार एक राजा अपने राज्य के कैदखाने के निरीक्षण को गया। वहां उसको कड़ी सजा पाने वाले सख्त मजदूरी का काम करते हुए तीन कैदी मिले। राजाने उनसे पूंछा कि तुम लोग किस अपराध में दण्ड पा रहे हो। एक कैदी ने कहा कि महाराज एक अपराधी के बदले में पुलिस ने मुझे पकड़ लिया था और मजिस्ट्रेट ने असल अपराधी की बजाय-मुझे जेल भेज दिया है। आपके राज्य में मैं बिना अपराध के ही कष्ट पा रहा हूं। दूसरे कैदी ने कहा कि महाराज पुलिस और न्यायधीश से मेरी शत्रुता थी, इस कारण मुझे बिना कसूर ही जेल में डाल दिया है और मुझे कष्ट दिया जा रहा है। तीसरे कैदी ने कहा कि महाराज मैंने सचमुच अपराध किया है, न्यायधीस ने सोच समझकर न्यायपूर्वक ही जो कुछ मुझे दण्ड दिया है वह बिलकुल ठीक है। इसके विरुद्ध मुझे कुछ नहीं कहना

। सजा समाप्त होने के बाद मैं प्रयत्न करूंगा कि फिर ऐसा अपराध कभी न करूं जिससे मुझे ऐसी सजा मिले। तब राजा ने तीनों बंदियों से फिर पूछा कि अच्छा अब तुम क्या चाहते हो ? तो पहिले और दूसरे बंदियों ने कहा कि महाराज हम निरपराध हैं, हमें छोड़ दिया जाय। तीसरे ने कहा—कि महाराज मैं अपराधी हूँ, क्षमा किस मुख से मांगू ? राजा इस तीसरे कैदी की बातें सुनकर प्रसन्न हुआ और उसे तुरन्त ही जेलखाने से मुक्त करा दिया। पहिले और दूसरे कैदी को जेल में ही रहने दिया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य को अपराध समझने के बाद उसका तुरन्त प्रायश्चित करना चाहिए। अपनी भूल को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है।

परन्तु आज हम इस क्षमावणी का उल्टा ही रूप देखते हैं, कि जिनका जिनसे प्रेम है वे इस दिन एक दूसरे के गले चिपक जाते हैं, बड़ी प्रीति जताते हैं, प्रेम की बातें करते हैं। एक दूसरे से बड़ी क्षमा की मीठी मीठी बातें करते हैं, पर जिनसे सचमुच में अज्ञान कषाय, धन, यश, कुटुम्ब, मान आदिक के कारण तीव्र दुश्मनी बन गई है उनसे बात नहीं करेंगे। उनकी तरफ दृष्टिपात भी नहीं करते। यह क्या क्षमावणी है ? अरे हमारा फर्ज है कि हम इस पर्व के महत्व को समझें, और इन उत्तम क्षमादि धर्मों को जीवन में उतार कर अपना कल्याण करें। आचार्यों ने हमें शिक्षा दी है कि—

छित्वा प्रशमशस्त्रेण भवव्यसनवागुराम् ।
मुक्तेः स्वयंवरागारं, वीरव्रज शनैः शनै ॥

अर्थात् हे वीर, तूँ शान्त भावरूपी शस्त्र से सांसारिक कष्ट-

रूपी फांसी को छेद कर मुक्तीरूपी स्त्री के स्वयंवर स्थान को शनैः शनैः जा।

और भी देखो न, जिस प्रकार सुवर्ण १६ ताव से पीड़ित होने पर भी सुवर्णपने को त्रिकाल में भी नहीं तजते हुये अपने दिव्य वर्ण को नहीं छोड़ता, चंदन को बार-बार घिसने पर भी चंदन अपनी सुगंधी नहीं तजता तथा इक्षुदंड के खंड-खंड होने पर भी वह अपने स्वाद एवं रस को कभी नहीं छोड़ता उसी प्रकार सज्जन पुरुष प्राणान्त होने पर भी अपने क्षमा गुण को कभी नहीं छोड़ते। अस्तु इस पावन पर्व पर हे जीवो:—

लेकर क्षमा सिन्धु का पानी,
क्रोध कीच को धोलो।
आया पावन प्रेम पर्व है,
गांठ हृदय की खोलो॥

अधिक क्या कहा जावे—

जहां सुमति तहं सम्पति नाना।
जहां कुमति तहां विपति निधाना॥

(ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः)